भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321 - 5704

(वर्ष-4, अंक-4, जनवरी, 2017)

संरक्षक

कुलपति, प्रो. आर.पी. तिवारी

परामर्शदाता

कुलसचिव, प्रो. निवेदिता मैत्रा

सम्पादक मण्डल

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

प्रो. चंदा बैन

डॉ. नवीन कानगो

श्री संतोष सोहगौरा

डॉ. अमरेन्द्र त्रिपाठी

डॉ. बबलू राय

सम्पादक

डॉ. छबिल कुमार मेहेर

सहायक सम्पादक

अभिषेक सक्सेना

राजभाषा प्रकोष्ठ

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश) - 470003

दूरभाष : (07582) 265828

ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका
ISSN 2321 – 5704
वर्ष 4, अंक 4
जनवरी, 2017

© *सर्वाधिकार सुरक्षित*

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :
हिन्दी अधिकारी, राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)–470003

दूरभाष : (07582) 265828
ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

मुद्रित प्रतियों की संख्या : 1000

मूल्य : निःशुल्क आन्तरिक वितरण हेतु

'भाषा भारती' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

शब्द संयोजन
विनोद रजक

मुद्रण
क्विक ऑफसैट
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
मो. 9811388579

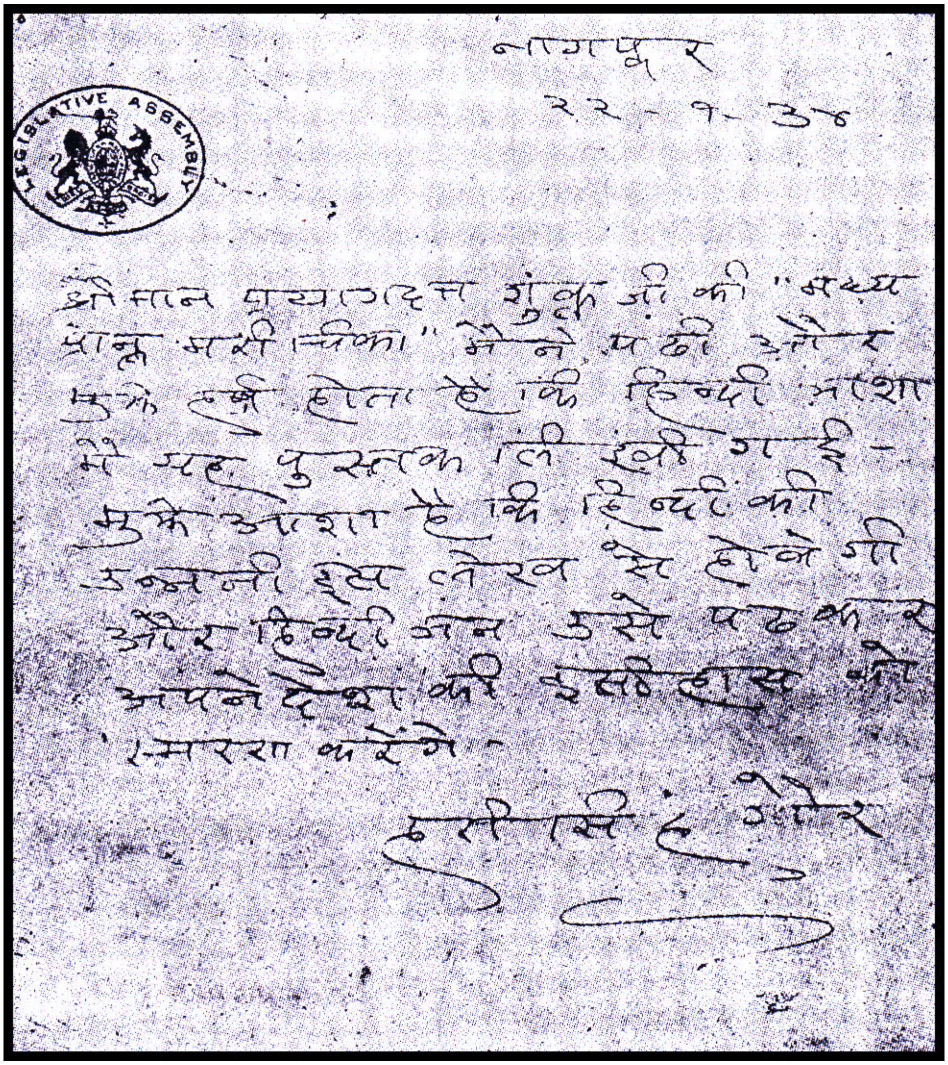

LEGISLATIVE ASSEMBLY

नागपुर
२२-७-३८

श्रीमान प्रयागदत्त शुक्ल जी की "मध्य प्रान्त [illegible]" मैंने पढ़ी और मुझे हर्ष होता है कि हिन्दी भाषा में यह पुस्तक लिखी गई। मुझे आशा है कि हिन्दी की उन्नति इस लेख से होवेगी और हिन्दी जन इसे पढ़कर अपने देश की इतिहास को स्मरण करेंगे।

हरीसिंह गौर

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर के संस्थापक कुलपति
डॉ. हरीसिंह गौर के देवनागरी में लिखित एक दुर्लभ पत्र की चित्र प्रति
(श्री दिनेश शर्मा के सौजन्य से)
साभार : ईसुरी

प्रो. आर.पी. तिवारी
कुलपति
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)–470003

संदेश

विश्वविद्यालय के राजभाषा प्रकोष्ठ द्वारा प्रकाशित राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका 'भाषा भारती' के चतुर्थ अंक के माध्यम से आपसे संवाद करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि हिन्दी एक समृद्ध भाषा है और भारत की राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता की कड़ी है। भारत के कोने-कोने में इसे समझने और बोलने वाले हैं, चाहे वे दक्षिण भारत के लोग हों या पूर्वोत्तर के, हिन्दी सभी को एकसूत्र में बाँधे हुए है। हमने राजभाषा हिन्दी के जरिये अपनी समृद्ध बौद्धिक परम्परा के साथ आधुनिक ज्ञान को मिलाकर सफलता के नये आयाम स्थापित किए हैं। जहाँ तक सरकारी कामकाज में इसके प्रयोग का सम्बन्ध है, हमें अपने अंतःमन में ऐसा निश्चय करना होगा और अपना कर्त्तव्य मानना होगा कि सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रयोग करने के लिए किसी संकल्प की आवश्यकता ना पड़े। हमें यह भी प्रयास करने चाहिए कि रोजमर्रा का छोटा-मोटा सरकारी कामकाज मूलतः हिन्दी में हो और अनुवाद कराने की आवश्यकता कम पड़े, इसके लिए हमें राजभाषा हिन्दी के प्रयोग के प्रति सकारात्मक रवैया अपनाना होगा।

विश्वविद्यालय परिवार के शिक्षक, अधिकारी एवं कर्मचारी अपनी रचनाओं के माध्यम से इस पत्रिका को पुष्पित-पल्लवित करने का जो कार्य कर रहे हैं, वह प्रशंसनीय है तथा अपेक्षा है कि इसी मनोयोग से राजभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार के प्रति अपने प्रयास निरन्तर जारी रखेंगे। इन्हीं आकांक्षाओं और अभिलाषाओं के साथ ढेर सारी शुभकामनाएँ।

फरवरी, 2017

(प्रो. आर.पी. तिवारी)

प्रो. निवेदिता मैत्रा
कुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)–470003

संदेश

राजभाषा प्रकोष्ठ द्वारा प्रकाशित विश्वविद्यालय की वार्षिक गृह राजभाषा पत्रिका 'भाषा भारती' का प्रकाशन विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से एक महत्त्वपूर्ण कदम है। विश्वविद्यालय परिवार के सदस्यों के एकीकृत प्रयासों का ही परिणाम है कि भाषा भारती का चतुर्थ अंक आप सब के समक्ष इस रूप में प्रस्तुत है।

हिन्दी भाषी क्षेत्र 'क' में स्थित होने के नाते यह हम सब का सामूहिक दायित्व है कि हम अपना शत-प्रतिशत सरकारी कार्य हिन्दी में करें। हमारे विश्वविद्यालय में राजभाषा में उत्कृष्ट कार्य हेतु प्रत्येक वर्ष तीन कर्मचारियों को राजभाषा पदक एवं पुरस्कार प्रदान किये जाते हैं। साथ ही हिन्दी दिवस, हिन्दी कार्यशालाओं आदि में विभिन्न प्रतियोगिताओं के माध्यम से भी कार्मिकों को पुरस्कृत किया जाता है। आज हमारे पास हिन्दी में सभी राजकीय कार्य निष्पादित करने के लिए उपर्युक्त और पर्याप्त पारिभाषिक शब्दावली और साधन हैं। सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से अनेक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। हमें इन सुविधाओं का उपयोग करना चाहिए।

'भाषा भारती' के इस अंक के प्रकाशन के अवसर पर मैं आप सब का आवाहन करती हूँ कि विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए चल रही तमाम प्रोत्साहन योजनाओं एवं सुविधाओं का लाभ लेते हुए अपना अधिक से अधिक कार्यालयीन कामकाज हिन्दी में करने का प्रयास करें।

आशा है कि पिछले अंकों की ही भाँति 'भाषा भारती' का यह अंक भी विश्वविद्यालय के कार्मिकों में हिन्दी में कार्य करने के लिए नई ऊर्जा का संचार करेगा।

पत्रिका के सफल प्रकाशन की मंगलकामनाओं के साथ पत्रिका के प्रकाशन से जुड़े सभी अधिकारियों और कर्मचारियों को बधाई एवं शुभकामनाएँ।

निवेदिता

फरवरी, 2017 (प्रो. निवेदिता मैत्रा)

सम्पादकीय–

अपनी भाषा में सुनता हूँ अपूर्व ऐश्वर्य की पुकार

> ''भाषा सम्प्रेषण का माध्यम होने के साथ-साथ संस्कृति की वाहक भी होती है। किसी देश की संस्कृति ऐतिहासिक झंझावातों द्वारा क्षत-विक्षत भले ही हो जाए, उसका सत्य और सातत्य उसकी भाषा में बचा रहता है।''
>
> –निर्मल वर्मा

हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है, साथ ही सम्पर्क भाषा भी। इस क्रम में वह हमारी राष्ट्रभाषा भी है। हिन्दी भाषा पर विचार करने का मतलब है भारतीय भाषाओं के विकास पर भी बात करना। अगर हिन्दी से देश की अन्य भाषाओं को रंचमात्र भी क्षति पहुँचने की आशंका होती तो गुजराती भाषा-भाषी राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने और दक्षिण में उसके प्रचार के लिए प्रयास नहीं किया होता, ओड़िशा और असम में उसके प्रसार के लिए भरपूर चेष्टा नहीं की होती और तमिल के यशस्वी लेखक और देश के सुविख्यात नेता श्री राजगोपालाचारी ने अपने राज्य में हिन्दी विरोधी आन्दोलन के होते हुए भी, हिन्दी प्रचार के लिए अनवरत चेष्टा नहीं की होती। सुभाषचन्द्र बोस ने इसी सन्दर्भ में कहा था कि हिन्दी के विरोध का कोई भी आन्दोलन राष्ट्र की प्रगति में बाधक है। स्वतंत्रता के पहले कन्याकुमारी से हिमाचल को एकता के सूत्र में पिरो कर हिन्दी ने एक महती भूमिका अदा की थी। परन्तु स्वातंत्र्योत्तर काल में हमारी हिन्दी गंदी राजनीति का शिकार हो गई। परिणामस्वरूप हिन्दी का पूर्ण विकास नहीं हो पाया जितना कि अपेक्षित था। आख़िर वजह क्या है? निश्चित रूप से प्राक्-स्वातंत्र्य काल का हमारा हिन्दीप्रेम, समर्पण, हमारी आत्मीयता, निष्ठा आदि सबके सब स्वतंत्रता परवर्ती काल में स्वार्थसिद्धि और कार्यसिद्धि तक सीमित हो गई। साहित्य में राष्ट्रभक्ति और सांस्कृतिक चेतना क्रमशः क्षीण होती गई। एक वर्ग के अनुसार हिन्दी स्वयंपूर्ण, सर्वसमर्थ और सर्वाधिक समद्ध भाषा है। दूसरे वर्ग के अनुसार हिन्दी अनुवाद और राजकाज की भाषा है। कुछ विद्वज्जनों का तो यह भी कहना है कि शिक्षा की माध्यम भाषा बनने की सामर्थ्य हिन्दी में नहीं है। जब कि सचाई यह है कि हिन्दी आज देश के करीब बयालीस करोड़ पचास लाख आदमियों द्वारा बोली, समझी और लिखी जाती है। हिन्दी जानने वाले व्यक्ति देश के किसी भी कोने में जाकर हिन्दी बोलकर

अपना काम चला लेते हैं। फिर सामाजिक, सांस्कृतिक, जातीयता की दृष्टि से आज हिन्दी बोलने वालों की संख्या दुनिया में सबसे ज्यादा है। अपनी भाषा का महत्त्व एवं उसकी पराकाष्ठा स्वतःसिद्ध है। अज्ञेय के शब्दों में अपने स्वभाव व अपनी प्रादेशिक स्थिति के कारण हिन्दी में निरन्तर एक सांस्कृतिक केन्द्रान्मुखता रही है।

प्रारम्भ से ही गाँधी जी विदेशी भाषा के बदले मातृभाषा में ही बच्चों को शिक्षा देने के पक्षधर थे। उन्होंने बरोच के गुजराती शिक्षा-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से कहा था कि 'शिक्षा में निपुण लोगों की सम्मति कि जो शिक्षा आंग्ल भाषा को माध्यम रखकर 16 वर्षों में दी जाती है वह मातृभाषा में 10 वर्षों तक दी जा सकती है। यदि हजारों नवयुवकों की जवानी के छः वर्ष बच जायें तो देश को क्या कम फायदा है? इस एक बात से आप लोग समझ सकते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा देने से हमारे नवयुवकों की, देश की कितनी बड़ी क्षति हो रही है?' यही कारण है कि आज सभी देशों में वहाँ की मातृभाषा द्वारा शिक्षा दी जाती है, पर भारत वर्ष ही एक ऐसा अभागा देश है जहाँ उसके बालकों को विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा देकर उनकी प्रतिभा का पतन किया जा रहा है।

इस सम्बन्ध में 'ऑन एजुकेशन' में उद्धृत उनका वैज्ञानिक तर्क द्रष्टव्य है : 'जिस प्रकार माँ के दूध से बच्चे के शरीर का निर्माण होता है, उसी प्रकार मातृभाषा के माध्यम से उसके मन और बुद्धि का विकास होता है। शिक्षा का कोई दूसरा माध्यम कैसे हो सकता है? यही तो प्रकृति का विधान है।' यही कारण था कि इंग्लैण्ड में पढ़ने के बावजूद उन्होंने अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' और 'हिन्द स्वराज' गुजराती में लिखी थी। 'नव जीवन' में वे यहाँ तक कहते हैं कि विदेशी राज के दुष्परिणामों में से अंग्रेजी शिक्षा माध्यम सबसे भयंकर अभिशाप है और इतिहास इस पाप का सदा के लिए साक्षी रहेगा।

हिन्दी के लिए यह संक्रमण का दौर है। एक ऐसा दौर जिसमें भूमण्डलीकरण और बाजारवाद की शक्तियाँ हम सब पर हावी हैं जिसने हम सभी को महज एक उपभोक्ता बना कर रख दिया है। बावजूद इसके हिन्दी आज स्वतः अपनी गति से पल्लवित-पुष्पित हो ही रही है। हिन्दी आज हमारे धर्म, साहित्य, अध्यात्म की भाषा ही नहीं रही अपितु शिक्षा, सूचना प्रौद्योगिकी, मनोरंजन, व्यवसाय, धनोपार्जन तथा रोजगार की भाषा बन चुकी है। जिस तरह से बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत की ओर अग्रसर हुई हैं, उसी तरह से व्यावसायिक क्षेत्र में भी हिन्दी की ज़रूरत ने जोर पकड़ा है। जनसंचार का कोई भी ऐसा भाग नहीं जहाँ विज्ञापन हिन्दी में न हों। परन्तु व्यापार, उद्योग और उद्यम, ज्ञान और प्रौद्यागिकी में अंग्रेजी का बोलबाला है; आज भी सरकारी कामकाज में हिन्दी प्रयोग के मामले में हम लोग बहुत पीछे हैं। 'पिछले वर्षों में हमारे जीवन की नैतिक मर्यादाओं और चिन्तन अध्ययन के शिक्षा स्रोतों पर जिस तरह अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व बढ़ा है उससे हम मानसिक दासता का शिकार हुए हैं।' और नतीजा हमारे सामने है। हिन्दी की स्थिति बहुत ही विकट है। कवि लीलाधर मण्डलोई जी ने इसे बहुत ही मार्मिक ढंग से उकेरा है :

''अपनी भाषा में जनमा मैं सुनता हूँ उसके अपूर्व ऐश्वर्य की पुकार
वह गूँजती है मिट्टी की गंध लिए उसी के आस्वाद में खोलता हूँ चेतना का द्वार
अंग्रेजी वहाँ छापामार शिल्प में आमदरफ़्त है
जवान उसके साथ गलबहियाँ करते बिन विचारे अन्यायियों के साथ हैं

तमाम माध्यमों पर उसकी खुलेआम दबिश
और मातृभाषा का घोर अपमान अपने ही मुल्क़ में
मेरे बच्चे भी दूध की स्मृति को भूलते लिख रहे हैं अपने ही लिए शोक प्रस्ताव
मैं भी इन हमलों के बीच लाख सावधानी के बाद होता जा रहा हूँ कुछ-कुछ भाषा भ्रष्ट
मैं बाज़-दफ़ा रोमन में करने लगता हूँ संवाद कि मेरे फोन पर हिन्दी का सॉफ्टवेयर गुम।...''

कुल मिलाकर स्थिति सोचनीय है। समय रहते इस पर ध्यान देना बहुत जरूरी है ताकि हमारी भाषा, हमारी अस्मिता और हमारी संस्कृति बची रहे।

'भाषा भारती' को आप लोगों का प्यार यूँ ही मिलता रहे। इत्यलम्।

26 जनवरी, 2017
गणतंत्र दिवस

– डॉ. छबिल कुमार मेहेर
सी-100, विश्वविद्यालय परिसर
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश–470003

अनुक्रमणिका

कुलपति का संदेश
कुलसचिव का संदेश
सम्पादकीय : अपनी भाषा में सुनता हूँ अपूर्व ऐश्वर्य की पुकार

भाषा एवं चिंतन

हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान 15
भारतेन्दु हरिश्चंद्र

जय हिन्द–जय नागरी 22
स्व. पं. सुधाकर पाण्डेय

भारतीय भाषाओं का भविष्य 23
शंभुनाथ

हिन्दी के विश्वभाषा रूप में उन्नयन की संभावनाएँ 32
यशदेव शल्य

तुलनात्मक भारतीय साहित्य 37
रमेशचंद्र शाह

बुंदेली भाषा-संस्कृति, इतिहास के अस्तित्व का संकट 47
राजेन्द्र यादव

नर्मदा के घाट पर प्रार्थना 52
आनंद कुमार सिंह

अनुवाद

विन्सेंट वान गॉग के दो पत्र भाई थियो के नाम 63
अनु. राजुला शाह

बौद्ध धर्म और विश्व-एकता 70
डॉ. सर हरीसिंह गौर
अनु. अभिषेक सक्सेना

संस्मरण

एस. मल्लिकार्जुनन् : सागर विश्वविद्यालय के ब्रदर टेरेसा 73
कान्तिकुमार जैन

कहानी

अभी तो 83
राजी सेठ

अंधेरे उजाले 97
प्रभाशंकर द्विवेदी

लघु कथा

बड़ा आदमी 113
हिमांशु कुमार

कविता एवं ग़ज़ल

ऐ बाबू ! बिस्तर नहीं है रे बस्तर 114
रमेश दवे

दो कविताएँ 119
दिनेश अत्रि

तीन कविताएँ 121
नवीन कानगो

तीन कविताएँ 124
पंकज चतुर्वेदी

तीन कविताएँ 127
वंदना राजोरिया

ज़िंदगी 130
रजनीश यादव

सलामत कैसे 131
अकबर सागरी

स्मरण

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : मूल्यों की लड़ाई में लहुलुहान आस्था 132
सी.एल. प्रभात

जीवनी

सामाजिक समरसता के ध्वजवाहक महामति प्राणनाथ 137
ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव

समीक्षा

स्मृतियों का सृजनात्मक पुनर्जन्म : नायब साहब 149
आशुतोष

रिपोर्ट

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम 155
विनोद रजक

पाठकीय 158

●●●

हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान

–भारतेन्दु हरिश्चंद्र

अहो अहो मम प्रान प्रिय आर्य भ्रातृ-गन आज।
धन्य दिवस जो यह जुड़ो हिन्दी हेतु समाज।।1
तामें आदर अति दिये मोहि तुम निज जन जान।
जो बुलवायो मोहि इत दर्शन हित सन्मान।।2
जदपि न मैं जानत कछु सब बिधि सों अति दीन।
तदपि भ्रात निज जानिकै सबन कृपा अति कीन।।3
भारत में यह देस धनि जहाँ मिलत सब भ्रात।
निज भाषा हित कटि कसे हम कहँ आज लखात।।4
निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।।5
पढ़े संस्कृत जतन करि पंडित भए विख्यात।
पै निज भाषा ज्ञान बिन कहि न सकत एक बात।।6
पढ़े फारसी बहुत बिध तौहू भये खराब।
पानी खटिया तर रहो पूत मरे बकि आब।।7
अंग्रेजी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन।।8
यह सब भाषा काम की जब लौं बाहर बास।
घर भीतर नहिं कर सक्त इन सों बुद्धि प्रकास।।9
नारि पुत्र नहिं समझहीं कछु इन भाषन माहिं।
तासों इन भाषन सों काम चलत कछु नाहिं।।10
उन्नति पूरी है तबहि जब घर उन्नति होय।
निज सरीर उन्नति किए रहत मूढ़ सब लोय।।11
पिता बिबिध भाषा पढ़े पुत्र न जानत एक।
तासों दोउन मध्य में रहत प्रेम अविवेक।।12

अंग्रेजी निज नारि को कोउ न सकत पढ़ाइ।
नारि पढ़े बिन एक हू काज न चलत लखाइ।।13
गुरु सिखवत बहु भाँति लौं जदपि बालकन ज्ञान।
पै माता-शिक्षा सरिस, होत तौन नहिं ज्ञान।।14
जब अति कोमल जिय रहत तब बालक तुतरात।
भूलत नहिं सो बात जो तबै सिखाई जात।।15
भूलि जात बहु बात जो जोबन सीखत लोय।
पै भूलत नहिं बालकन सीख्यो सुनो जो होय।।16
जिमि लै काँची मृत्तिका सब कछु सकत बनाय।
पै न पकाए पर चलत तामें कछू उपाय।।17
काँचे पर ता सों बनत जो कछु सो रह जात।
चिन्ह सदा तिमि बाल सिसु शिक्षा नाहिं भुलात।।18
सो सिसु-शिक्षा मातु-बस जो करि पुत्रहि प्यार।
खान-पान खेलन समय सकत सिखाय बिचार।।19
लाल पुत्र करि चूमि मुख बिबिध प्रकार खेलाइ।
माता सब कछु पुत्र को सहजहिं सकत दिखाइ।।20
सो माता हिन्दी बिना कछु नहिं जानत और।
तासों निज भाषा अहै, सबही की सिरमौर।।21
पढ़ो लिखो कोउ लाख बिध भाषा बहुत प्रकार।
पै जबही कछु सोचिहो निज भाषा अनुसार।।22
सुत सों तिय सों मीत सों भृत्यन सों दिन रात।
जो भाषा मधि कीजिये निज मन की बहु बात।।23
ता की उन्नति के किए सब बिधि मिटत कलेस।
जामैं सहजहि दै सकौ इन सब को उपदेश।।24
जदपि बाहर के जनन गुन सों देत रिझाय।
पै निज घर के लोग कहँ सकत नाहिं समझाय।।25
बाहर तो अति चतुर बनि कीनो जगत प्रबंध।
पै घर को व्यवहार सब रहत अंध को अंध।।26
कै पहिने पतलून कै भये मौलबी खास।
पै तिय सके रिझाय नहिं जो गृहस्थ्य सुख बास।।27

इनकी सो अति चतुरता तिनको नाहिं सुहात।
ताहीं सों प्राचीन कवि कही भली यह बात।।28
खसम जो पूजै देहरा भूत-पूजनी जोय।
एकै घर में दो मता कुसल कहाँ से होय।।29
तासों जब सब होहिं घर बिद्या-बुद्धि-निधान।
होइ सकत उन्नति तबै और उपाय न आन।।30
निज भाषा उन्नति बिना कबहुँ न ह्वै है सोय।
लाख अनेक उपाय यों भले करो किन कोय।।31
इक भाषा, इक जीव इक मति सब घर के लोग।
तबै बनत है सबन सों मिटत मूढ़ता सोग।।32
और एक अति लाभ यह यामैं प्रगट लखात।
निज भाषा में कीजिए जो विद्या की बात।।33
तेहि सुनि पावै लाभ सब बात सुने जो कोय।
यह गुन भाषा और महँ कबहूँ नाहीं कोय।।34
लखहु न अँगरेजन करी उन्नति भाषा माँहिं।
सब विद्या के ग्रंथ अँगरेजिन माँह लखाहिं।।35
सब्द बहुत परदेस के उच्चार हू न ठीक।
लिखत कछू पढ़ि जात कछु सब बिधि परम अलीक।।36
पै निज भाषा जानि तेहि तजत नहीं अँगरेज।
दिन दिन याही को करत उन्नति पै अति तेज।।37
बिबिध कला शिक्षा अमित ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देसन से लै करहु भाषा माँहिं प्रचार।।38
जहाँ जौन को गुन लह्यो लियो जहाँ सो तौन।
ताहीं सों अँगरेज अब सब बिद्या के भौन।।39
पढ़ि बिदेस भाषा लहत सकल बुद्धि को स्वाद।
पै कृतकृत्य न होत ये बिन कछु करि अनुवाद।।40
तुलसी कृत रामायनहु पढ़त जबै चित लाय।
तब ताको आसय लिखत भाषा माँहिं बनाय।।41
तासों सबहीं भाँति है इनकी उन्नति आज।
एकहि भाषा महँ अहै जिनकी सकल समाज।।42
धर्म जुद्ध विद्या कला गीत काव्य अरु ज्ञान।
सबके समझन जोग है भाषा माँहि समान।।43

भारत में सब भिन्न अति ताही सों उत्पात।
बिबिध देस मतहू बिबिध भाषा बिबिध लखात।।44
सौंप्यौ ब्राह्मन को धरम तेई जानत वेद।
तासों निज मत को लह्या कोऊ कबहुँ न भेद।।45
तिन जो भाष्यो सोइ कियो अनुचित जदपि लखात।
सपनहुँ नहिं जानी कछू अपने मत की बात।।46
पढ़े संस्कृत बहुत बिध अंग्रेजी हू आप।
भाषा चतुर नहीं भए हिय को मिट्यो न ताप।।47
तिमि जग शिष्टाचार सब मौलवियन आधीन।
तिन सों सीखे बिनु रहत भये दीन के दीन।।48
बैठनि बोलनि उठनि पुनि हँसनि मिलनि बतरान।
बिन पारसी न आवही यह जिय निश्चय जान।।49
तिमि जग की विद्या सकल अँगरेजी आधीन।
सबै जानि ताके बिना रहै दीन के दीन।।50
करत बहुत बिधि चतुरई तऊ न कछू लखात।
नहिं कछु जानत तार में खबर कौन बिधि जात।।51
रेल चलत केहि भाँति सों कल है काको नाँव।
तोप चलावत किमि सबै जारि सकल जो गाँव।।52
वस्त्र बनत केहि भाँति सों कागज केहि बिधि होत।
काहि कबाइद कहत हैं बाँधत किमि जल-सोत।।53
उतरत फोटोग्राफ किमि छिन मँह छाया रूप।
होय मनुष्यहि क्यों भये हम गुलाम ये भूप।।54
यह सब अँगरेजी पढ़े बनु नहिं जान्यो जात।
तासों याको भेद नहिं साधारनहि लखात।।55
बिना पढ़े अब या समै चलै न कोउ बिधि काज।
दिन दिन छीजत जात है या सों आर्य्य समाज।।56
कल के कल बल छलन सों छले इते के लोग।
नित नित घन सों घटत हैं बाढ़त है दुख सोग।।57
मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम।
परदेसी जुलहान कै मानहु भये गुलाम।।58

वस्त्र काँच कागज कलम चित्र खिलौने आदि।
आवत सब परदेस सों नितहि जहाजन लादि।।59
इत की रुई सींग अरु चरमहि तित लै जाय।
ताहि स्वच्छ करि वस्तु बहु भेजत इतहि बनाय।।60
तिनही को हम पाइकै साजत निज आमोद।
तिन बिन छिन तृन सकल सुख, स्वाद बिनोद प्रमोद।।61
कछु तो बेतन में गयो कछुक राज-कर माँहि।
बाकी सब ब्यौहार में गयो रह्यौ कछु नाहिं।।62
निरधन दिन दिन होत है भारत भुव सब भाँति।
ताहि बचाइ न कोउ सकत निज भुज बुद्धि-बल कांति।।63
यह सब कला अधीन है तामें इतै न ग्रंथ।
तासों सूझत नाहिं कछु द्रब्य बचावन पंथ।।64
अँगरेजी पहिले पढ़ै पुनि बिलायतहि जाय।
या विद्या को भेद सब तो कछु ताहि लखाय।।65
सो तो केवल पढ़न में गई जवानी बीति।
तब आगे का करि सकत होइ बिरध गहि नीति।।66
तैसहि भोगत दंड बहु बिनु जाने कानून।
सहत पुलिस की ताड़ना देत एक करि दून।।67
या सब विद्या की कहूँ होइ जु पै अनुवाद।
निज भाषा महँ तो सबै याको लहै संवाद।।68
जानि सकैं सब कछु सबहि बिबिध कला के खेद।
बनै बस्तु कल की इतै मिटै दीनता भेद।।69
राजनीति समझैं सकल पावहिं तत्त्व बिचार।
पहिचानैं जिन धरम को जानैं शिष्टाचार।।70
दूजे के नहिं बस रहैं सीखैं बिबिध बिबेक।
होइ मुक्त दोउ जगत के भोगैं भोग अनेक।।71
तासो सब मिलि छाँड़ि कै दूजे और उपाय।
उन्नति भाषा की करहु अहो भ्रात गन आय।।72
बच्यौ तनिकहू समय नहिं तासों करहु न देर।
औसर चूके ब्यर्थ की सोच करहुगे फेर।।73

प्रचलित करहु जहान में निज भाषा करि जत्न।
राज-काज दरबार में फैलावहु यह रत्न।।74
भाषा सोधहु आपनी होई एबै एकत्र।
पढ़हु पढ़ाबहु लिखहु मिलि छपवावहु कछु पत्र।।75
बैर बिरोधहि छोड़ि कै एक जीव सब होय।
करहु जतन उद्धार को मिलि भाई सब कोय।।76
अलहा बिरहहु को भयो अँगरेजी अनुवाद।
यह लखि लाज न आवई तुमहिं न होत बिखाद।।77
अँगरेजी अरु फारसी अरबी संस्कृति ढेर।
खुले खजाने तिनहिं क्यों लूटत लावहु देर।।78
सबको सार निकाल कै पुस्तक रचहु बनाइ।
छोटी बड़ी अनेक बिध बिबिध विषय की लाइ।।79
मेटहु तम अज्ञान को सुखी होहु सब कोय।
बाल वृद्ध नर नारि सब विद्या संजुत होय।।80
फूट बैर को दूरि करि बाँधि कमर मजबूत।
भारत माता के बनो भ्राता पूत सपूत।।81
देव पितर सबही दुखी कष्टित भारत माय।
दीन दसा निज सुतन की तिनसों लखी न जाय।।82
कब लौं दुख सहिहौ सबै रहिहौ बने गुलाम।
पाइ मूढ़ कालो अरध-सिक्षित काफिर नाम।।83
बिना एक जिय के भये चलिहै अब नहिं काम।
तासों कोरो ज्ञान तजि उठहु छोड़ि बिसराम।।84
लखहु काल का जग करत सोवहु अब तुम नाहिं।
अब कैसो आयो समय होत कहा जग माहिं।।85
बढ़न चहत आगे सबै जग की जेती जाति।
बल बुधि धन विज्ञान में तुम कहँ अबहूँ राति।।86
लखहु एक कैसे सबै मुसलमान क्रिस्तान।
हाय फूट इक हमहिं में कारन परत न जान।।87
बैर फूट ही सों भयो सब भारत को नास।
तबहु न छाँड़त याहि सब बँधे मोह के फाँस।।88

छोड़हु स्वारथ बात सब उठहु एक चित होय।
मिलहु कमर कसि भ्रातगन पावहु सुख दुख खोय।।89
बीती अब दुख की निसा देखहु भयो प्रभात।
उठहु हाथ मुँह धोइ कै बाँधहु परिकर भ्रात।।90
या दुख सों मरनो, भलो, धिग जीवन बिन मान।
तासों सब मिलि अब करहु बेगहि ज्ञान बिधान।।91
कोरी बातन काम कछु चलिहै नाहिंन मीत।
तासों सब मिलि अब करहु बेग परस्पर प्रीत।।92
परदेसी की बुद्धि अरु वस्तुन की करि आस।
पर-बस है कब लौं कहो रहिहौ तुम ह्वै दास।।93
काम खिताब किताब सौं अब नहिं सरिहै मीत।
तासों उठहु सिताब अब छाँड़ि सकल भय भीत।।94
निज भाषा, निज धरम, निज मान करम ब्यौहार।
सबै बढ़ावहु बेगि मिलि कहत पुकार पुकार।।95
लखहु उदित पूरब भयो भरत-भानु प्रकास।
उठहु खिलावहु हिय-कमल करहु तिमिर दुख नास।।96
करहु बिलम्ब न भ्रात अब उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु प्रथम जो सब को मूल।।97
लहहु आर्य्य भ्राता सबै विद्या बल बुधि ज्ञान।
मेटि परस्पर द्रोह मिलि होहु सबै गुन-खान।।98

हिंदी भाषा के परमाचार्य श्रीयुत् बाबू हरिश्चंद्र का लेक्चर, जिसे बाबू साहब ने जून मास (ज्येष्ठ सं. 1934, सन् 1877) को हिंदीवर्द्धिनी सभा में पढ़ा था। (हिंदी प्रदीप खण्ड 1, संख्या 1-2, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'हिंदी भाषा' नाम से प्रकाशित)

जय हिन्दी-जय नागरी

–स्व. पं. सुधाकर पाण्डेय

जय हिन्दी, जय नागरी।
ऋषि मुनियों के अमर मंत्र की गागरी।।
जय हिन्दी, जय नागरी।।

हिमगिरि के रस सिद्ध पीठ से,
बहती अविरल गंगा जल सी।
रामेश्वर के महा उदधि की,
शब्द ब्रह्म है शुचि निर्मल सी।
वेद पुराण, श्याम, राम शिव पागरी।।

महामंत्र स्वातंत्र्य मुक्ति की,
ज्ञान खान जन गिरा शक्ति की।
वाणी कल्याणी विज्ञानी,
परम ज्ञान विज्ञान भक्ति की।
नेह रंजिता भारत माँ की माँगरी।।

जग उद्‌बोधक, अंतर शोधक,
बोधक सत्य विषमता नाशक।
भाषक चिंतामणी उद्‌भाषक,
शांति प्रगति उल्लास प्रकाशक।
हर क्षण हर पल नित नूतन नव रागरी।।
जय हिन्दी, जय नागरी।।

साभार : नागरी पत्रिका
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

भारतीय भाषाओं का भविष्य

—शंभुनाथ

पहले भी भारत की भाषा-समस्या और हिन्दी की स्थिति पर काफी रोचक बहस हो चुकी है। इसके बावजूद, नए सिरे से बहस की जरूरत है, क्योंकि इधर कुछ नए दबाव पैदा हुए हैं। इन नए दबावों में भूमंडलीकरण प्रमुख है। इसने व्यापार और मीडिया ही नहीं, भाषा के संसार को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया है। नतीजन भाषा से संबंधित सवाल पुरानी जगह से एक बिल्कुल नई जगह पर आ गए हैं। अब हिन्दी-उर्दू विवाद है, कम से कम इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के निकट नहीं है। जातीय विकास से भाषा के विकास का संबंध है या नहीं, यह बता पाना नए परिदृश्य में अब कठिन है। 'विकास' जातीयता और जातीय भाषा से एक बिल्कुल स्वतंत्र मामला बनता जा रहा है। हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा बनेगी, यह बात अब सिर्फ कुछ लोगों के भोले स्वप्न में है। राजभाषा में सरकारी कामकाज बढ़ाना अब किसी की मुख्य चिंता में शामिल नहीं है। संविधान की आठवीं अनुसूची में राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी सहित कई अन्य भाषाओं को भी दर्ज करना चाहिए या नहीं, यह और ऐसे बहुत से सवाल अब भूमंडलीकरण के आगे निरर्थक हो चुके हैं।

भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण के सामाजिक असर ने हिन्दी ही नहीं, तमाम भारतीय भाषाओं के भविष्य को एक सर्द अंधकार में भेज दिया है। विश्व बाजार, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और स्वाधीनता आंदोलन के दौर से काफी भिन्न किस्म की राजनीति ने सिर्फ हिन्दी नहीं, सभी भारतीय भाषाओं को जड़हीन करने की शुरुआत कर दी है। हमारी भाषाएँ उनके खेल का हिस्सा बनती जा रही हैं, अपनी स्वायत्त जातीय दुनिया का लगातार आत्मविसर्जन करती हुईं। भारत के लोग विकास की नई अवधारणाओं की ओर बढ़ते हुए, भाषा के संदर्भ में जिस तेजी से औपनिवेशिक मानसिकता से पुनः आक्रांत हो रहे हैं और अपनी मातृभाषा को हेय नज़रों से देखने लगे हैं, स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण भारतीय सांस्कृतिक पहचानों के साथ-साथ भाषाओं को भी निगलने लगा है। इसलिए आज मुकाबला हिन्दी बनाम तमिल, हिन्दी बनाम मैथिली और यहाँ तक कि महज अंग्रेजी बनाम हिन्दी का न होकर भूमंडलीकरण बनाम भारतीय भाषाओं के बीच है। भारतीय भाषाओं में हिन्दी सबसे ज्यादा बोली, समझी और पढ़ी जाने वाली भाषा है। अतः हिन्दी को ही न केवल उसका सबसे ज्यादा हमला झेलना पड़ेगा, बल्कि पलट कर जवाब भी देना होगा।

यह भूमंडलीकरण का बड़ा असर है कि उससे उत्साहित होकर अश्लीलतावादी लेखक खुशवंत सिंह रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर अपमानजनक टिप्पणी करते हैं। वे हिन्दी को इसलिए दरिद्र भाषा कहते हैं कि इसमें 'माउस' और 'रैट' के लिए अलग-अलग शब्द नहीं है। शोभा डे भारत की सर्वाधिक लोकप्रिय रचनाकार हो जाती हैं। 'स्टेट्समैन' जैसे पश्चिमपरस्त अखबारों का स्वाधीनता-पूर्व का हिन्दी-विरोधी मुहिम तेज हो जाता है। अंग्रेजी दां वर्ग को अचानक लगने लगता है कि एकमात्र वही अर्थात् अंग्रेजीभाषी शहरी मध्य वर्ग ही भारत के आधुनिक और प्रगतिशील मानस का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। जैसे उसी ने जाति, धर्म और क्षेत्र का अतिक्रमण करके देश को जोड़ रखा है। टिटिहरियों को कभी-कभी भ्रम हो जाता है कि पूरा आसमान उन्हीं के सहारे टिका है। यह भूमंडलीकरण के ही बौद्धिक प्रवक्ताओं का तर्क है कि हिन्दी भाषी प्रदेश अंग्रेजी का प्रयोग करने के मामलों में पीछे हैं, इसीलिए सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी पिछड़े हैं। घुमाफिरा कर नए सिरे से स्थापित किया जा रहा है कि आधुनिकता और अंग्रेजी में, प्रगति और अंग्रेजी में तथा भूमंडलीकरण और अंग्रेजी में सीधा संबंध है।

भारत के शिक्षित वर्ग की औपनिवेशिक मानसिकता पर टिप्पणी करते हुए काफी पहले सियाराम शरण गुप्त ने लिखा था, ''यह बात गलत है कि पलासी की लड़ाई में थोड़े से अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान जीता। उस दिन उनकी जीत अवश्य हुई, परन्तु वह जीत हिन्दुस्तान की पराजय नहीं थी। जिस दिन और जिस तरह निश्चित रूप से हमारी हार हुई, उसका उल्लेख हमारे स्कूल के इतिहास में नहीं मिलता। इतिहास की यह बहुत बड़ी घटना बाह्य क्षेत्र में घटित ही नहीं हुई। इसका मुख्य क्षेत्र हमारा मस्तिष्क और हृदय था।...हमारे इस आभ्यंतर की विजय विजेता की भाषा द्वारा ही संभव थी।'' 21वीं सदी की देहरी पर भी वही अंग्रेजी-शिक्षाप्राप्त वर्ग है। वह विकासशील भारत पर बौद्धिक उपनिवेशवाद की दुबारा जीत का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। वह अपने अंग्रेजी दां विशिष्ट वर्ग के हितों और चिंताओं के अनुरूप ही जीवन और भाषा का दर्शन गढ़ रहा है।

भूमंडलीकरण के प्रति आलोचनात्मक रुख के बावजूद, बड़ी संख्या में लोग एक बार फिर अपनी राष्ट्रीय जीवन शैली और अपनी भाषा से उदासीन होते जा रहे हैं। यह प्रक्रिया अकस्मात शुरू नहीं हुई है। 20वीं सदी के शुरू के दशकों से ही यह प्रक्रिया जारी है। उन दिनों नवजागरण के महान आदर्शों से विच्छिन्न होना शुरू कर चुके एक विशिष्ट शिक्षित वर्ग की संवेदनहीनता पर टिप्पणी करते हुए सियाराम शरण गुप्त ने आगे लिखा था, ''कितना उपद्रव, कितना उत्पात, कितनी संहार-क्रीड़ा आज हमें देखनी पड़ती है, इसका लेखा लगाने कौन जाए। यह सब देखकर न तो हमारा हृदय कांपता है और न हमें दया ही आती है। आती भी है तो किसी टकसाल में ढली हुई चीजों की भांति बनावटी और कामचलाऊ। ग्रामोफोन की चूड़ी की तरह क्षण भर गाकर हमारी करुणा चुप हो जाती है।'' लगता है कोई मानो हमारे अपने युग के यांत्रिक और स्वार्थी बुद्धिजीवियों पर टिप्पणी कर रहा है।

व्यापारिक विकास ने कभी भाषा पर बड़ा ही सकारात्मक प्रभाव डाला था। इसने देसी बाजारों

को जोड़कर जनपदीय दीवारें तोड़ दी थीं। फलतः राष्ट्रीय भाषाएँ आकार पाने लगी थीं। भाषा में आ रहा यह विकास तब आम जनता के हितों और चिंताओं के अनुरूप था। बाजार आज हिन्दी को खा-चबा रहा हो, पर कभी उसी ने हिन्दी को जन्म भी दिया था। आज के बाजार से तब का बाजार भिन्न था, क्योंकि उसका गहरा संबंध उपभोक्ताओं के हितों, जरूरतों और जातीय संस्कृति से था। बाजार ने खड़ी बोली हिन्दी को विस्तृत आकार देना शुरू कर दिया था, भले तब यह साहित्य की भाषा न बन पाई हो।

1663 में पिएट्रो डेल्लावेल्ला नाम के एक यूरोपीय ने अपनी किताब 'इंडियन ट्रैवेल्स' में लिखा कि इस देश में 'हिन्दुस्तानी' ही संपर्क भाषा है और उसकी लिपि नागरी है। ईस्ट इंडिया कंपनी की नीति के तहत 1798 में खुली ओरिएंटल सेमिनरी में तब अंग्रेज ही 'हिन्दुस्तानी' सीखते थे। अंग्रेजों का अनुभव था कि व्यापारिक सफलता के लिए 'हिन्दुस्तानी' ही उपयोगी है। इसी साल वेलजली गवर्नर जनरल होकर भारत आया था। उसने अपनी राजनैतिक कुशलता का परिचय देते हुए 18 जुलाई, 1800 को एक पत्र लिखा कि अंग्रेज पदाधिकारियों को 'भारतीय इतिहास, भाषाओं, प्रथाओं और रीतिरिवाजों के साथ ही मुसलमानों और हिन्दुओं की न्यायसंहिता और धर्म, राजनीति एवं व्यापारिक रुचि तथा एशिया में ग्रेट ब्रिटेन के संबंधों का सम्यक ज्ञान होना चाहिए।' वेलजली ने बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स के अनुमोदन के बिना इसी साल फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की, जहाँ गिलक्राइस्ट 'हिन्दुस्तानी' विभाग के अध्यक्ष बने। 1835 में मैकाले की योजना के क्रियान्वयन से पहले भारत में भाषा के सवाल पर एक दूसरी की हवा थी।

आजादी की लड़ाई के दौरान एक बार के हिन्दी की मर्यादा का बोध हुआ था और नए सिरे से हवा बननी शुरू हुई थी। लेकिन यह देश का दुर्भाग्य है कि अंग्रेजी की गुलामी के खिलाफ लड़ाई पश्चिमी आधुनिकता के फैलते साम्राज्य में व्यापक जड़ें नहीं पकड़ सकी। देश की आजादी के बाद 1950 से 65 तक की राजनैतिक मियाद सिर्फ हिन्दी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के लिए दुर्भाग्यजनक थी। इस अवधि में अंग्रेजी को नए सिरे से अपनी कूटनीति विकसित करने का अवसर मिल गया और भारतीय अंतःकलह भी फैलता गया और अब आर्थिक उदारीकरण के बाद अंग्रेजीकरण की एक नई आंधी चल पड़ी है!

विदेशी कंपनियाँ पश्चिमी संस्कृति और आवारा रंगढंग की खुली प्रचारक हैं, लेकिन उपभोक्ताओं के बीच अपने माल को लोकप्रिय बनाने के लिए विज्ञापन में भारतीय भाषाओं, विशेषतः हिन्दी का सहारा लेती हैं। इससे एक नकली आशा पैदा होती है कि विकासशील भारत में बाजार जितना बढ़ेगा, हिन्दी का भी उत्थान होगा। हिन्दी अब विश्वविद्यालय की भाषा से बाजार की भाषा हो रही है। फिर भी क्या वजह है कि बाजार की भाषा के रूप में उसका उत्सवमय पुनर्जन्म अपने पीछे एक मातमी धुन भी ला रहा है? यदि आर्थिक उदारीकरण हमारे देश के जातीय औद्योगिक ढांचे को मजबूत बनाता, राष्ट्रीय भाषाओं को पुनर्जीवन जरूर मिलता। लेकिन आर्थिक उदारीकरण

जातीय औद्योगिक ढाँचे को रुग्ण बनाकर भारत को उत्पादक देश की तुलना में महज एक नकलची, परजीवी और उपभोक्तावादी देश में ही अधिक रूपांतरित कर रहा है। फलतः भारत की राष्ट्रीय भाषाएँ विज्ञापनों में देरसबेर बुझने वाले दीये की तरह भी भभक कर जल रही हैं।

प्रेमचंद ने 'जमाना' के जून 1905 के अंक में एक लेख लिखा था— 'देसी चीजों का प्रचार कैसे बढ़ सकता है'। इस सदी के पहले दशक में ही उन्होंने कहा था, ''व्यापार के रास्ते में पहली बाधा यह है कि अभी तक हमारे देश वालों को हिन्दुस्तानी उद्योग-धंधों और कारखानों की जानकारी नहीं है।... केवल (अंग्रेजी) पढ़े-लिखे लोगों के संरक्षण और सहानुभूति से हमारे व्यापार और उद्योग की यथेच्छ उन्नति नहीं हो सकती, जब तक आबादी का वह बड़ा हिस्सा भी जो मुल्की और कौमी मामलों तरफ से बेखबर है, इस अच्छे काम में हाथ न बंटाए।'' प्रेमचंद भारत को एक स्व-औद्योगिक देश के रूप में देखना चाहते थे, विदेशी वस्तुओं के भुक्खड़ उपभोक्ताओं के देश के रूप में नहीं। उन्होंने भारतवासियों के मन में पैठे विदेशी वस्तुओं के प्रति आकर्षण को पहचान कर लिखा था, ''वे जत्थे के जत्थे आते हैं, शहरों में विदेशी और रद्दी माल सस्ते दामों में खरीदते हैं।'' विदेशी वस्तुओं के प्रति अतिरिक्त आकर्षण अंग्रेजी के प्रति आकर्षण की ओर ले जाता है। यदि भारत को जापान जैसा अपनी राहों से विकसित औद्योगिक देश बनाया जाता, तो यहाँ अंग्रेजी टिकी नहीं रहती। भारतीय उद्योगीकरण में व्यापकता नहीं आ पाई। यहाँ औद्योगिक विकास की जगह विपणन और पूँजी बाजार पर कब्जा में अधिक रुचि है। यदि आर्थिक उदारीकरण भारत को पूर्वापेक्षा एक अधिक बड़ा उत्पादक देश बनने में मदद देता, स्थानीय उद्योग-धंधों को रुग्ण बनाने की जगह चंगा करता, औद्योगिक विकास के लिए बुनियादी ढाँचागत सुविधाएँ बढ़ाता, तब संभव था कि स्थानीय औद्योगिक विकास के साथ स्थानीय भारतीय भाषाएँ भी तरक्की करतीं। उद्यमियों और संपन्न हो रहे श्रमिकों दोनों में पर्याप्त स्वदेश-चेतना होती। भूमंडलीकरण 'स्थानीय' के पक्ष में जाता। लेकिन हमारे देश में आर्थिक उदारीकरण 'स्थानीय' के दमन के साम्राज्यवादी हथियार के रूप में प्रयुक्त हुआ है। फलतः बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ यहाँ आर्थिक लूट ही नहीं मचा रही हैं, सांस्कृतिक तहस-नहस ही नहीं कर रही हैं, देसी पूँजीपतियों के साथ मिलकर भारतीय भाषाओं को पृष्ठभूमि में फेंकने के षड्यंत्र में भी लगी हैं।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रचार की भाषा में सिमट कर भारतीय भाषाएँ अपना चेहरा ही नहीं, अस्तित्व तक खो देंगी। राष्ट्रीय भाषा जीवन पाती है राष्ट्रीय संस्कृति और इसको विकसित करने वाले मेहनतकश देशवासियों के आत्मपहचान के विस्तृत संषर्ष से। जब विश्व बाजार और उपभोक्तावाद राष्ट्रीय संस्कृति का पूर्ण बाजारीकरण कर लेंगे और बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ देश के लोगों की आशाएँ, आकांक्षाएँ और जरूरतें पूरी तरह बदल देंगी, तब राष्ट्रीय भाषाएँ आकाशवट तो हैं नहीं कि बादलों में उनकी जड़ें लगेंगी। यदि उसी दिशा में विकास आगे जारी रहा, जिस दिशा में फिलहाल हो रहा है, तो राष्ट्रीय भाषाएँ पिछड़ेपन की भाषाएँ मानी जाएँगी।

खासकर नई पीढ़ी का जिस गति से अंग्रेजीकरण हो रहा है, अंग्रेजी जिस प्रकार चंद लोगों की भाषा से समाज के नए समर्थ वर्गों की भाषा बन रही है और अब आदमी को देश के नक्शे से उठाकर जिस तेजी से पूरे ग्लोब पर खड़ा किया जा रहा है, यह सब देखकर लगता है कि हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाएँ अब जल्दी ही मातृभाषाओं से 'दादी अम्मा की भाषाएँ' हो जाएंगी। बच्चे देखेंगे कि उनकी माँ उच्च फैशन की बहुराष्ट्रीय उत्पादों की ही नहीं, अंग्रेजी की भी दीवानी हैं और उनका देश भारत से 'इंडिया' हो गया है। हिन्दी के विकास में सबसे बड़े अवरोधक साबित हुए हैं वे शिक्षित जन, जो थोड़ी शिक्षा पा जाने या कला-साहित्य का ज्ञान हो जाने के बाद पश्चिमी असर में चले जाते हैं। उन्हें अपनी पहचान हिन्दी से जोड़े में छोटेपन का बोध होता है। इस पर सोचना होगा, हिन्दी के बड़े-बड़े आधुनिक लेखक तक हिन्दी जातीय चेतना से रिक्त क्यों रह गए और उनके लेखन में हिन्दी समाज का ठोस यथार्थ अनुपस्थित क्यों रह गया?

राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों में एक आशा बंधी थी कि भारतीय भाषाओं का गौरव फिर स्थापित होगा। उस जमाने की राजनीति ने सदियों से रौंदी गई हिन्दी को ही राष्ट्रीय चेतना का मुकुट नहीं बना दिया, दूसरी भारतीय भाषाएँ भी आत्मगौरव से भर उठी थीं। न केवल बड़े व्यापारी हिन्दी विद्यालय, समाचार पत्र, पुस्तकालय, प्रकाशन गृह आदि खोलने में सुख का अनुभव करते थे, बल्कि राजनीतिज्ञ भी अंग्रेजी छोड़कर हिन्दी अपना रहे थे। यह सब देशप्रेमऔर राष्ट्रीय भावना का प्रतीक माना जाता था। आज देशप्रेम से अधिक जरूरी है स्थानीय संकीर्णतावाद और भूमंडलीयता का रिमिक्स। इसलिए वे सभी संस्थाएँ खंडहर में बदल रही हैं, जो राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों में जातीय आधुनिकता के मंदिर समझी जाती थीं। अब शहरों में हिन्दी माध्यम के नए स्कूल, पुस्तकालय, साहित्यिक संस्थान खुलने बंद हो गए हैं। यह जातीय आत्मक्षय का लक्षण है। हिन्दी में बातचीत घट रही है। गाँवों में भी अंग्रेजी माध्यम के स्कूल खुलने लगे हैं और भूमंडलीकरण से सरकारी-व्यावसायिक दफ्तरों में पुनः अंग्रेजीकरण को बल मिला है।

पुराने दिनों में राष्ट्रीय जन उभार का एक असर यह था कि भाषिक बुनियादवाद पृष्ठभूमि में जा चुका था— हिन्दी को राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रज, बुंदेलखंडी आदि भाषाएँ मिलकर अपनी-अपनी शक्ति दे रही थीं। किसी दुर्गा की तरह सजी हुई थी हिन्दी। सभी ने एक स्वर से चंदबरदाई, खुसरो, विद्यापति, मीरा, कबीर, सूर और तुलसी की काव्य भाषाओं को हिन्दी की परंपरा में देखा था। जब हम लोगों ने इन्हें पढ़ना शुरू किया था, तब कभी सोचते भी नहीं थे कि ये हिन्दी के कवि नहीं हैं। न तब अलग मैथिली की बढ़ी-चढ़ी आवाज थी, न अलग भोजपुरी की। न अलग राजस्थानी की। न अलग ब्रज, छत्तीसगढ़ी और बुंदेलखंडी की। अपने को जोड़कर ये सभी भाषाएँ 'नई चाल में' ढल चुकी थीं, जो थी हिन्दी। हिन्दी सामंती संकीर्णता और साम्राज्यवाद के प्रत्युत्तर में एक साझा आधुनिक निर्माण थी।

निस्संदेह स्थानीय सह-भाषाओं और संस्कृतियों को उन्नति के अवसर मिलने चाहिए। लेकिन

यह भी देखना होगा कि कहीं सामाजिक भिन्नतावाद को स्वार्थवश बढ़ावा देने के लिए ही तो भाषिक-सांस्कृतिक भिन्नता और संरक्षण की आवाज नहीं उठ रही है। सामाजिक भिन्नतावाद ने हिन्दी और उर्दू के बीच दूरी बढ़ाकर रखी। यदि धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई को दोनों संप्रदायों के बीच सामाजिक अंतःक्रिया और एकता से जोड़ा जाए, दोनों भाषाएँ निकट आएंगी और एक साथ मिलकर अंग्रेजी को बहुत असरदार टक्कर देंगी। लेकिन सांप्रदायिक-पृथक्तावादी तत्त्व सामाजिक एकता नहीं चाहते। इसलिए उनका पांडित्यवाद हिन्दी-उर्दू की निकटता का शत्रु बना हुआ है और अंग्रेजी का प्रच्छन्न अभिनंदनकर्त्ता।

हिन्दी जिन भाषाओं और बोलियों का विकास है, उनका पृथक्तावादी स्वर स्वतंत्र आत्मपहचान क्या पैदा कर पाएगा, उल्टे भूमंडलीकरण को ही बढ़ने का मौका देगा। भाषाई पृथक्तावादी कहते हैं कि हिन्दी उनकी मातृभाषा नहीं है। उनकी मातृभाषा है मैथिली, भोजपुरी, राजस्थानी, ब्रज, बुंदेलखंडी आदि। यह सामाजिक भिन्नतावाद है, जो सिर्फ हिन्दी समाज नहीं, पूरे देशे के लिए खतरा है। यदि हिन्दी प्रदेश के लोगों की मातृभाषाएँ ये सभी हैं, तो हिन्दी किसी मातृभाषा है? वस्तुतः उपर्युक्त सभी भाषाएँ हिन्दी की माँ हैं। माँ अपनी संतान की विरोधी नहीं हो सकती। फिर भी कुछ कुंठित महत्त्वकांक्षी नेता माँ को उसकी संतान से लड़ाना चाहते हैं। ये अपने क्षेत्र में विद्यालय खोलेंगे अंग्रेजी माध्यम के, चलेंगे अंग्रेजियत की चाल पर, लेकिन छद्‌म स्थानीयता-प्रेम दिखाते हुए मांग करेंगे कि संविधान की आठवीं अनुसूची में मैथिली, भोजपुरी, राजस्थानी या ऐसी ही दूसरी भाषाएँ दर्ज हों, हम हिन्दी को मातृभाषा नहीं मानते। आज का कौन विद्यार्थी उपर्युक्त सहभाषाओं में शिक्षा लेने के लिए तैयार है? हिन्दी माध्यम से पढ़ाने में ही आज के अभिभावक अपनी हीनता समझते हैं, तो मैथिली, भोजपुरी या राजस्थानी माध्यम से कौन पढ़ाएगा अपने बच्चों को? क्या हम हिन्दी प्रदेशों में उतने राज्य बनाने जा रहे हैं, जितनी सह-भाषाएँ, उप-भाषाएँ या बोलियाँ हैं? इस तरह रोज हर भाषा के भीतर से दस भाषाएँ निकल आया करेंगी। यह मातृभाषा-प्रेम नहीं होगा, इसे साम्राज्यवाद-प्रेरित सामाजिक भिन्नतावाद कहा जाएगा, जिसके मूल में होती है सत्ता-लालसा!

दरअसल हिन्दी प्रदेश में हिन्दी का विकास और हिन्दी नवजागरण का काम अभी बहुत बाकी है। आर्थिक पिछड़ेपन, सामाजिक गतिशीलता के अभाव और जातीय नवनिर्माण के विभिन्न अवरोधों के कारण हिन्दी प्रदेशों में हिन्दी अभी भी पिछड़ी हुई है। गलती यह हुई कि हिन्दी के साहित्यिक विकास को ही हिन्दी का विकास मान लिया गया!

भाषाई पृथक्तावाद जितने गंभीर रूप में हिन्दी का मामला है, दूसरी किसी भारतीय भाषा का नहीं। शायद इसलिए कि हिन्दी दूसरी भारतीय भाषाओं की तरह एक छोटे प्रदेश की भाषा नहीं है। हिन्दी एक विराट क्षेत्र की भाषा है। विस्तृत उद्योगीकरण के अभाव में अनगिनत सामंती अंतर्विरोध उसे विरासत में मिले हैं। इस प्रकार भाषिक पृथक्तावाद पुराने सामंती अंतर्विरोधों और

संकीर्णतावाद का ही एक नतीजा है, जिसका फायदा अंग्रेजी के पक्षधर उठाते हैं। वे हिन्दी के सामंती अंतर्विरोधों पर हंसते हैं, मुख्य बात यह नहीं है। मुख्य बात है कि मुट्ठी भर हठी लोग एक उदार ढाँचा वाली मिश्रणशील भाषा, समाज और संस्कृति में बर्लिन की ऐसी दीवारें खड़ी कर रहे हैं, जिन्हें राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों ने काफी पहले धराशायी कर दिया था।

हिन्दी के साथ दूसरी विडंबना इसके राजभाषा-स्वरूप को लेकर है। आजादी के 50 साल बाद भी दफ्तरों में वह महज एक प्रतीक-कर्म है या मनोरंजनपरक वार्षिकोत्सव। सांसदों और राजभाषा अधिकारियों के लिए हिन्दी महज एक पर्यटन है, जिसके साथ ढेरों उपहार और तामझाम जुड़े हैं। कार्यालयीन हिन्दी को रघुवीर की परंपरा के हिन्दी अधिकारियों ने 'टेस्ट ट्यूब बेबी' बना दिया है। ऐसी हिन्दी से जनता किसी आत्मीय रिश्ते का अनुभव नहीं कर पाती। अनुवाद की यांत्रिकता ने हिन्दी पत्रकारिता को भी निगल लिया है, इसमें अब वह पुराना ताप नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में भी पिछले कई दशकों से भाषा का निजीकरण होता आया है। इन सबसे हिन्दी के भीतर ही जरूरत से ज्यादा दूरियाँ पैदा हुई हैं, फूट के तत्त्व बढ़े हैं एवं जातीय आत्मगौरव के अभाव में अंग्रेजी के वर्चस्व को नया अवसर मिला है।

हिन्दी के साथ तीसरी विडंबना है इलेक्ट्रॉनिक मीडिया द्वारा हिन्दी की दुर्गति। इसके दो बुरे नतीजे सामने आए हैं— विकृत सार्वभौमीकरण और विकृत देहातीकरण। एक में अंग्रेजी के शब्द ठुंसे रहते हैं, दूसरे में बिहारी बोलियों के । हिन्दी की बहुस्त्रोतपरकता, विविधता और सृजनात्मकता को देखते हुए कभी व्यापार और राजनीति ने हिन्दी के ढांचे में एक ऐसी मिश्रित भाषा की परिकल्पना की थी, जिसमें संस्कृत, उर्दू, दूसरी भारतीय भाषाओं और लोकभाषा के शब्द हों। बुद्ध, अशोक, कबीर, तुलसी, अकबर आदि की परंपरा में भाषिक कट्टरता की कोई जगह नहीं थी। उदारतापूर्वक मिश्रण हिन्दी की प्रकृति है। लेकिन इधर टीवी की हिन्दी पर नजर डालें तो पाएंगे कि सभी उपर्युक्त स्त्रोत गायब हैं। हिन्दी में मिश्रित हो रही है सिर्फ अंग्रेजी। निस्संदेह सरलता एवं पारदर्शिता के साथ मिश्रणशीलता भी जीवंत भाषा का एक प्रमुख लक्षण है। कहा जाता है कि अंग्रेजी में हजारों भारतीय शब्द मिश्रित हुए, परंतु यह सकारात्मक मिश्रण था। इसने अंग्रेजी भाषा की बुनियादी प्रकृति और संरचना को बिगाड़े बिना उसे समृद्ध किया। हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों का मिश्रण नकारात्मक है। यह जिस ढंग का मिश्रण है, वह हिन्दी की बुनियादी प्रकृति और संरचना को बिगाड़ता है। यह सरासर साम्राज्यवादी प्रभुत्ववाद है। कहाँ वह एक दौर था, मानक ही नहीं, अच्छी, सादी और पारदर्शी हिन्दी गढ़ने का, कहां आज का दौर है हिन्दी के अहिन्दीकरण का, वस्तुतः हिन्दी संस्कृति को नष्ट करने का।

हिन्दी से अधिक दूसरी किसी भारतीय भाषा का इतना मजाक नहीं उड़ाया जाता, इतनी फजीहत नहीं की जाती। प्रवचनकर्ता तक हिन्दी की कैसी छीछालेदर करते हैं, उसका एक नमूना देखिए और समझ जाइए कि यह किसका प्रवचन है, 'जिस तरह घड़ी वाटरप्रूफ और शॉकप्रूफ होती

है, हरि नाम जपने से जीवन भी प्राब्लम-प्रूफ हो जाता है—जै राम जी की!' नई पीढ़ी के अंग्रेजी पढ़े-लिखे बच्चे हिन्दी का एक भी पूरा वाक्य बोल नहीं सकते। कुछ लोग अंग्रेजी में सोच कर ही हिन्दी में बोल पाते हैं और बहुत गर्व से यह बात स्वीकार करते हैं। हिन्दी अपना चेहरा जिस तेजी से खो रही है, दूसरी कोई भारतीय भाषा नहीं। ऐसा सिर्फ इसलिए नहीं कि हिन्दी समाज भूमंडलीय व्यापार का एक प्रमुख निशाना है। अश्लीलता की हदों को छूता भाषिक विकृतिकरण का सिलसिला इसलिए पनप रहा है कि हिन्दी समाज में राष्ट्रीय आत्मपहचान की भूख नहीं है, हिन्दी के गौरव का बोध नहीं है। हिन्दी से जुड़ी विडंबनाओं को यदि दूर नहीं किया गया तो 25 साल बाद हिन्दी की दशा ग्रीक और संस्कृत जैसी हो जाएगी, उसमें सिर्फ काव्य लिखा जाएगा। हिन्दी न अभिजनों और अमीरों से संपर्क की भाषा रहेगी, न गरीबों से संपर्क की भाषा। हिन्दी की जगह ले लेगी अंग्रेजी या हिन्दी की सह-भाषाएँ-बोलियाँ! यदि आने वाले दिनों में हमारे ही घरों में खड़ी बोली हिन्दी नहीं बोली जाएगी, तब वह वस्तुतः कहाँ जगह पाएगी?

हिन्दी की अपनी विशिष्ट विडंबनाओं के बावजूद, इसकी नियति दूसरी भारतीय भाषाओं की नियति से जुड़ी हुई है। इसी तरह भूमंडलीकरण के दबाव में दूसरी भारतीय भाषाओं की नियति भी हिन्दी की नियति से भिन्न नहीं होगी। यह तय हो गया है कि सभी भारतीय भाषाओं को अब एक साथ जीना या एक साथ मरना है। जातीय पुनर्जागरण उन्हें फिर एक बार नया जीवन देगा, जातीय आत्मक्षय उन्हें फिर एक बार पृष्ठभूमि में फेंक देगा। यह मान कर चलने की पर्याप्त वजहें हैं कि जब दूसरी भारतीय भाषाओं से हिन्दी का गहरा लगाव है तो हिन्दी जातीय-भाषाई समुदाय में विविधता को दरार में बदलने की कोशिशें या नए साम्राज्यवादी सांस्कृतिक आक्रमण के असर में पुनः अंग्रेजीकरण महज मध्यांतर का एक दुखांत है। यह नहीं समाज की अंतिम नियति नहीं है।

पिछले कुछ सालों से विज्ञान और व्यापार भाषा को ध्वनि-संकेतों और दृश्य-संकेतों में सीमित करके उसे महज एक यांत्रिक उत्पादन में बदल रहे हैं। भाषा केवल सूचना का माध्यम नहीं है, वह राष्ट्रीय पहचान भी है। उसे महज कोडों, चिह्नों, संकेतों, रेखाओं, और संख्यावाचकता में बांध देना अपनी पहचान धीरे-धीरे खो देना है। क्या भाषा भाप की तरह उड़ जाएगी, भाषिक वाष्पीकरण होगा? ऐसा नहीं है कि जीवन को गतिशील बनाने की प्रक्रिया में कोडों, चिह्नों और संख्याओं को महत्त्व नहीं मिलना चाहिए, मगर जीवन सिर्फ कोड, चिह्न और संख्या नहीं है। आदिम जीवन में सिर्फ चिह्न, संकेत और संख्या ही थे। आदिम जीवन से धीरे-धीरे भाषा की ओर बढ़ना महज एक माध्यम की ओर बढ़ना नहीं था, वह एक आत्मपहचान और संस्कृति की ओर बढ़ना भी था।

भाषा के सार्वभौमीकरण की नई वैज्ञानिक प्रक्रिया आभास दे सकती है कि हम एक विश्वभाषा की ओर बढ़ रहे हैं, जिसमें अब शब्द नहीं, सीधे वाक्य होंगे। ये किसी भी देश और समाज में संगीत की तरह ग्राह्य होंगे। शब्द अब न्यूनतम उपयोग के ही काबिल रह जाएंगे। एक दिन शब्द नहीं होंगे। इसके साथ समाज और संस्कृति के समस्त बंधन टूट जाएंगे, मनुष्य भूमंडलीय हो

जाएगा। पिछड़े रह जाएंगे वे सभी, जो देशभक्त होंगे और भारतीय भाषाओं में काम करेंगे। क्या अब यही होगा कि भारतीय भाषाएँ आदिम भाषाओं की तरह नजर आएंगी?

भाषा को लेकर हमारा दर्शन घटते-घटते यहाँ पहुँच गया है कि भाषा महज काम चलाने के लिए है। अंग्रेजी भी काम चलाने के लिए है, उससे काम को पंख लग जाते हैं। विश्व ग्राम की साम्राज्यवादी अवधारणा ने अंग्रेजी का शैक्षणिक, व्यापारिक और सामाजिक महत्त्व बढ़ा दिया है। अंग्रेजी से काम तेजी से चलता है। इसकी सीधी पहुँच का वृत्त पूरा भूमंडल है। भले ही काम चलाने के लिए अंग्रेजी का दामन पकड़ा गया हो, पर कामचलाऊपन के दर्शन ने जनता में सामाजिक रिश्तों की गंभीरता मिटा दी है। इसने साहित्य के क्षेत्र में, हर भाषा के साहित्य से मुहावरों और लालित्य का अपहरण कर लिया है। भारतीय भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान की नई किताबों का अकाल है या जो छप रही हैं, वे चर्चित चर्वण हैं। नव-औपनिवेशिक बौद्धिकता के माल! इन पुस्तकों में भारतीय यथार्थों से सीधी मुठभेड़ नहीं है, सब कुछ वाया अंग्रेजी पुस्तकें! फलतः आज की हिन्दी में कोई राष्ट्रीय आत्मा नहीं झांकती, वह बड़ी सुस्त और औपचारिक-सी होती जा रही है, लगभग प्राणहीन। जरूरत इसकी है कि विकास की ताजगी के साथ भाषा के खोए बहुमूल्य संस्कारों को पुनः कैसे पाया जाए, लेकिन यहाँ तो सभी बड़ी जल्दी और पश्चिमी उन्माद में हैं।

गणेश शंकर विद्यार्थी ने कभी एक बहुत अच्छी बात कही थी, "मुझे देश की आजादी और भाषा की आजादी में किसी एक को चुनना पड़े तो मैं निस्संकोच भाषा की आजादी चुनूंगा, क्योंकि मैं फायदे में रहूँगा। देश की आजादी के बावजूद भाषा की गुलामी रह सकती है, लेकिन अगर भाषा आजाद हुई तो देश गुलाम नहीं रह सकता।" निस्संदेह भारतीय भाषाओं की आजादी पर ही देश और इसकी संस्कृति का भविष्य निर्भर करता है।

भारतीय भाषाएँ अपनत्व की भाषाएँ हैं, रिश्तों के गहरे अहसास की भाषाएँ हैं। अपनी मातृभाषा छोड़ने वाले भारतीय धीरे-धीरे सभी रिश्ते छोड़ देते हैं। अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने वाले अभिभावक पाएंगे कि अंग्रेजीदाँ हो जाने के बाद उनकी संताने उनके साथ वैसा ही व्यवहार करेंगी, जैसा अमेरिका की संताने अपनी 'मम्मी या डैडी', अपने 'ब्रदर्स या सिस्टर्स' या 'फ्रेंड्स' के साथ करती हैं। भारत को अमेरिका बनाने में लगे लोग एक दिन अपने को अभिशप्त और भीतर से खोखले निवासियों के रूप में पाएंगे!

389, जी.टी. रोड
हावड़ा—711106
पश्चिम बंगाल

हिन्दी के विश्वभाषा रूप में उन्नयन की सम्भावनाएँ

—यशदेव शल्य

कोई भाषा विश्व-भाषा अधिकांशतः उस भाषा के बोलने वालों के राजनैतिक-सैनिक विस्तार के द्वारा बनती है। कभी-कभी कोई भाषा उसमें रचे गए वाङ्मय की समृद्धि के आधार पर भी विश्वभाषा बन सकती है, पर अधिकांशतः ऐसा होता नहीं है। उदाहरणतः बौद्ध धर्म और दर्शन से समृद्ध संस्कृत भाषा से चीनियों और तिब्बतियों ने उस वाङ्मय का अनुवाद अपनी भाषाओं में कर लिया किन्तु संस्कृत कभी उनकी भाषा नहीं बनी। इसी प्रकार रूसी उपन्यासों और जर्मनी के दर्शन-ग्रन्थों या काव्य-ग्रन्थों के दूसरी भाषाओं में अनुवाद ही हुए, ये भाषाएँ अन्य भाषा-भाषियों की भाषाएँ नहीं बनीं। आज अंग्रेजी विश्वभाषा है, उससे कुछ कम फ्रांसीसी है, ये दोनों इनके बोलने वालों के साम्राज्यों के कारण विश्वभाषाएँ बनी हैं। अन्यथा वाङ्मय की दृष्टि से ये दोनों भाषाएँ, विशेषतः अंग्रेजी, 18वीं शताब्दी तक कोई सर्वाधिक समृद्ध भाषाएँ नहीं थीं, इससे जर्मन भाषा कहीं अधिक समृद्ध थी। इंग्लैण्ड द्वारा भारत-विजय के बाद यूरोप के लोगों का संस्कृत की ओर भी ध्यान गया क्योंकि यह भाषा वाङ्मय की दृष्टि से बहुत समृद्ध थी, उनके कुछ विद्वानों ने यह सीखी और इसमें पारंगत भी हुए, किन्तु उन्होंने न तो इसे अपनी भाषा के रूप में अपनाया और न इसके वाङ्मय को अपने वाङ्मय के रूप में अपनाया। इसके वाङ्मय को उन्होंने भारत-विद्या (इंडोलोजी) के नाम से अन्य के वाङ्मय के रूप में ही देखा। इसके विपरीत इंग्लैण्ड और फ्रांस के उपनिवेशों के वासियों ने इनकी भाषाओं को अपनी भाषाओं के रूप में ही अपनाया और इनके वाङ्मय को आत्मसात् करने, या उससे तत्सात् होने को अपना आदर्श बनाया। इतना ही नहीं, उन्होंने उनकी वेश-भूषा और रंग-ढंग आदि को भी अपनाने का प्रयत्न किया। इससे भारतीय भाषाएँ व भारत के प्रतिष्ठित वर्ग की भाषाएँ होने से रह गईं और इनमें साहित्यिक लेखन के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वाङ्मय की रचना नहीं हो पायी। यों इससे पहले की कुछ शताब्दियों से, सम्भवतः मुस्लिम शासन के कारण, भारत में सामान्यतः ही साहित्येतर वाङ्मय की रचना बहुत कम हो रही थी, किन्तु तब भी जो रचना हो रही थी वह संस्कृत में ही हो रही थी, जन-भाषाओं में नहीं हो रही थी। अंग्रेजी शासन-काल में संस्कृत का स्थान अंग्रेजी ने ले लिया। संस्कृत से अंग्रेजी की ओर संक्रमण केवल भाषा तक ही सीमित नहीं रहा, यह संक्रमण

वाङ्मय में भी हुआ। अब अध्ययन और लेखन का विषय पाश्चात्य विचार हो गया। स्वतन्त्रता-संग्राम-काल में राष्ट्रीयता की अवधारणा के उदय के साथ भारत की राष्ट्रभाषा की अवधारणा भी बनी और इस रूप में हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया गया, किन्तु गाँधीजी और कुछ अन्य इने-गिने नेताओं के अतिरिक्त किसी भी राजनीतिक नेता ने पूरे मन से हिन्दी को 'आर्यजन' की भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया, 'पृथग्जन' की भाषा के रूप में ही स्वीकार किया। राज्य की ओर से विश्वविद्यालयों की भाषा और राज-काज की भाषा अंग्रेजी बनायी गयी और हमारे पृथग्जन और आर्यजन दोनों के मन में प्रकट रूप से या अप्रकट रूप से अंग्रेजी और अंग्रेज़ियत की श्रेष्ठता का भाव घर कर गया। ऐसे में हमारे लिए भाषा ही आयातित नहीं हुई, विचार भी हुआ। हमारे सुधीजन पाश्चात्य विचारों में पण्डित्य सिद्ध कर स्वयं विचार करने की सामर्थ्य खो रहे थे। इस प्रकार हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में काव्य-लेखन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं लिखा जा रहा था। इस प्रकार हमारी भाषाएँ हिन्दी सहित, अपने ही देश की भाषा के रूप में कभी स्वीकृत नहीं हुईं। इस मानसिकता के कारण ही स्वतन्त्रता के बाद भी भारतीय भाषाएँ कभी अपनायी नहीं गईं। प्रधानमंत्री के रूप में पं. नेहरू ने लोकसभा में जो प्रथम भाषण दिया वह अंग्रेज़ी में ही दिया, हमारा संविधान जो बना वह यूरोप के संविधानों के आधार पर ही बना, इतना ही नहीं, स्वतन्त्रता के बाद सरकार ने अध्यापकों को अध्यापन में उत्कृष्ट बनाने के लिए केवल विज्ञान विषयों में ही नहीं मानविकी और समाजशास्त्रीय विषयों में भी वहाँ के विचारों के कौशल प्राप्त करने के लिए भिजवाया। यह एक ऐसा सांस्कृतिक आत्मघाती कृत्य था जिससे बड़े सांस्कृतिक आत्मघाती कृत्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसे समझने के लिए निम्न तीन प्रश्न देखें– 1. कर्त्तव्य क्या है और अकर्त्तव्य क्या है? 2. समाज क्या है और व्यक्ति क्या है और इनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? 3. मन क्या है? ये तीन प्रश्न क्रमशः दर्शन, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के आरम्भिक प्रश्न कहे जा सकते हैं। अब इनके उत्तर क्या संस्कृति-निरपेक्ष हो सकते हैं? उदाहरणतः तीसरे प्रश्न के उत्तर के रूप में पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुरूप हमारे विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है कि – 'मन शरीर – व्यवहार है'। यह परिभाषा एक पूरी तत्त्वमीमांसा को पूर्वगृहीत करता है, अब यह परिभाषा जो तत्त्वमीमांसा आधुनिक पश्चिम के सांस्कृतिक इतिहास में मूलित है। अब इस उत्तर को स्वीकार करने का अर्थ है अपनी सांस्कृतिक परम्परा से उन्मूलित होना। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद अपने स्वयं ही इस उन्मूलन को अपने लिए चुना। हमारे अध्यापक पश्चिम की ओर दौड़ाये गये कि वे वहाँ से यह सब सीख कर आयें और स्वयं उन्मूलित होकर विद्यार्थियों को भी उन्मूलित करें।

मैं जब 1952 में साहित्य का क्षेत्र छोड़कर दर्शन के क्षेत्र में आया तो मैंने पाया कि हिन्दी में दर्शन की कोई पत्रिका नहीं है और न हिन्दी में कोई इस विषय की पुस्तकें हैं। उस समय मेरे में यह सांस्कृतिक विवेक तो नहीं था जिसकी चर्चा अभी मैंने ऊपर की है, किन्तु यह समझ

तब मेरे में जगी कि हिन्दी ऐसे राष्ट्र की राष्ट्रभाषा कैसे हो सकती है, जो संस्कृति और सभ्यता में मूर्धन्य होने की बात करता है। तब मैंने इस सम्बन्ध में राजकमल प्रकाशन की विज्ञापन-पत्रिका प्रकाशन समाचार में एक लेख लिखा और उसके बाद इस स्थिति को बदलने के लिए प्रयत्न आरम्भ किया। किन्तु तब मैंने पाया कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए निरन्तर संघर्षरत राजनीतिक और सांस्कृतिक नेताओं में इसका कोई बोध ही नहीं है। इस पर मैंने लिखा कि हिन्दी की सब संस्थाओं को साहित्य की बात छोड़ कर अन्य विषयों में वाङ्मय रचना की ओर ही ध्यान देना चाहिए, क्योंकि हिन्दी में साहित्य-रचना तो स्वतः ही हो रही है। किन्तु मेरी इस बात की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। तब मैंने अकेले ही दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका और अखिल दर्शन परिषद् नामक संगठन आरम्भ करने का बीड़ा उठाया। इस पर डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने मुझे चेताया कि मेरा यह प्रयत्न सफल होना असम्भव है, क्योंकि वे समाजशास्त्रीय पत्रिका 'समाज' का प्रकाशन आरम्भ कर उसे दो बार बन्द करने को बाध्य हुए थे। किन्तु उनकी चेतावनी के बाद भी मैंने वह पत्रिका और परिषद् आरम्भ कर दी और उसमें सफल रहा, यह एक अलग किस्सा है, किन्तु इससे देश की चेतना में कोई अन्तर नहीं पड़ा। पीछे 1960 के बाद जब लोकसभा में भारतीय भाषाओं को विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए दबाव बढ़ा तो सब को यही पता चला कि इन भाषाओं में तो किसी विषय की कोई पुस्तकें ही नहीं हैं। तब इन विषयों में अंग्रेजी से पुस्तकें अनुवाद करने की योजना बनायी गयी, पारिभाषिक शब्दावली आयोग की स्थापना की गई और सांस्कृतिक आत्मघात की पूरी व्यवस्था कर ली गई। तब यहाँ प्रश्न होगा कि ऐसी अवस्था में और क्या किया जा सकता था? इस पर मेरा उत्तर है कि हमें अपने अध्यापकों से कहना चाहिए था कि वे अपनी भाषाएँ सीखें और विभिन्न विषयों में लिखने के लिए अपनी परम्परा को और अपने अनुभव को देखें। अवश्य वह लेखन आरम्भ में अनगढ़ होता किन्तु ऐसे सुघड़ लेखन का क्या अर्थ जो अपने अनुभव के ही निषेध पर प्रतिष्ठित हो? किन्तु इस सुघड़ लेखन के पीछे हमने अनुवादों के कारखाने खोल दिये, जिनमें हमारे विद्यार्थियों के लिए अप्रासंगिक विचार अबूझ शब्दावली मे प्रस्तुत किया गया। यह शब्दावली अबूझ इसलिए थी क्योंकि इन शब्दों को हमारी अपनी भाषा में कोई प्रयोग नहीं था, वे उन विदेशी शब्दों के पर्यायवाची मात्र थे जिनके अर्थ उन शब्दों से ही जुड़े थे जिनके अर्थ बताने के लिए ये शब्द गढ़े गए थे। इससे यह आशा की गई थी कि इन अनुवादों के द्वारा यह ज्ञान-भण्डार हिन्दी में आ जाने पर क्रमशः हिन्दी में मौलिक लेखन भी होने लगेगा। किन्तु दूसरों के विचारों के उपजीवी होकर मौलिक लेखक होने की आशा से बड़ी दुरांशा क्या हो सकती थी? यही कारण है कि हमारे देश में विचार के क्षेत्र में मौलिक लेखन हिन्दी में या अन्य भारतीय भाषाओं में ही नहीं, अंग्रेजी में भी नहीं हो रहा है, सिवाय ऐसे कुछ अपवादों के जिन्होंने हठ ठाना है कि वे किसी की नकल नहीं ही करेंगे। ऐसी परिस्थिति में हम दूसरों के लिए सम्माननीय नहीं हो सकते। दूसरों के लिए

सम्माननीय होने के लिए पहली पूर्वापेक्षा आत्मसम्मान का होना है जो हममें नहीं है। स्वतन्त्रता से पहले हम इसकी रक्षा का कुछ प्रयत्न करते थे, बाद में हमें इसकी रक्षा की भी आवश्यकता नहीं रही और यह हममें निरन्तर घट ही रहा है बढ़ नहीं रहा है। आप लोग अधिकांशतः साहित्यिक क्षेत्र से सम्बन्धित है इसलिए मैं इसी का उदाहरण दूँगा। इस क्षेत्र को मैं लगभग 1948 से देख रहा हूँ। इस क्षेत्र के लोग जैसे फ्रायड, एड्लर, मार्क्स-एंजल्स, सार्त्र आदि के नाम लेकर एक-दूसरे पर रौब डालने का प्रयत्न करते रहे हैं, वह आप सबको भी पता है। आज उनके स्थान पर दूसरे नाम आ गए हैं। पीछे किसी संस्था ने देरिदा को आमन्त्रित किया (वे आज हमारे नये देवता हैं) तो दूर-दूर से हमारे साहित्यिक उनके दर्शन और श्रवण के लिए दिल्ली पहुँचे। इस मानसिकता के बहुत से और उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। इस मानसिकता के रहते हिन्दी के विश्वभाषा होने की बात सोचना हास्यास्पद ही लगता है, क्योंकि इस मानसिकता के रहते तो यह हमारे देश की भाषा भी नहीं बन सकती।

किन्तु हिन्दी को विश्वभाषा बनाने की अभिलाषा का औचित्य भी हमें समझ में नहीं आया। यह अभिलाषा दूसरों पर ही आरोपित होने की है। कोई व्यक्ति दो प्रकार से दूसरों पर प्रभाव स्थापित कर सकता है। एक तो भौतिक बल से दूसरों पर अपनी प्रभुता स्थापित करके और दूसरे इतनी सुदृढ़ता से आत्मप्रतिष्ठ होकर कि दूसरे स्वयं उसकी ओर आकर्षित हों। अब जैसा कि हमने पीछे कहा, कोई भाषा विश्वभाषा बलात् आरोपण से ही बनती है। हाँ उसमें यदि वाङ्मय उत्कृष्ट हो तो उसके ग्रन्थों का लोग अपनी भाषाओं में अनुवाद करने को स्वयं प्रेरित होते हैं। किन्तु हमारे पास न तो बल है और न वाङ्मय। स्वतन्त्रता के पहले पी.एल. 480 योजना के अन्तर्गत अमरीका के साथ अध्यापकों की एक तथाकथित विनिमय की व्यवस्था चली थी। तब एक वरिष्ठ अध्यापक ने बताया कि वे उसके अन्तर्गत अमरीका जा रहे हैं। इस पर मैंने उन्हें कहा कि इसमें विनिमय की बात कहाँ है? यहाँ से अध्यापक सीखने जाते हैं और वहाँ से सिखाने आते हैं। इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं था। यही बात अनुवाद की है। भारतीय लेखक स्वयं अपने ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद करते या करवाते हैं। अंग्रेज़ तो हमारे ग्रन्थों का अनुवाद नहीं करते। वे केवल हमारे प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद करते हैं। कुछेक बार मुझे भी कहा गया कि मेरे ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद होना चाहिए। मैंने उत्तर दिया, मुझे इसमें कोई रूचि नहीं है। यदि कभी अंग्रज़ों को होगी तो वे स्वयं कर लेंगे।। अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय एक 'हिन्दी' नामक पत्रिका अंग्रेजी में प्रकाशित करता है, हमारी अनुसंधान परिषदें अपनी पत्रिकाएँ केवल अंग्रेज़ी में ही प्रकाशित करती हैं। यह हमारे आत्म-अप्रतिष्ठ होने का द्योतक है। हमें आवश्यकता आत्मप्रतिष्ठ होने की है जो परापेक्षी होने के विपरीत भाव है। विश्व-विजय की अभिलाषा में भी एक प्रकार की परापेक्षा ही है। वह कोई वांछनीय स्थिति नहीं है। सहज स्थिति आत्म-प्रतिष्ठा की है और हमें वही होना चाहिए। हिन्दी को दूसरों पर थोप कर हमें क्या मिलेगा? किन्तु खैर,

हमारे पास यह सामर्थ्य कभी आने वाला नहीं है कि हम दूसरों पर अपनी भाषा थोप सकें। इसलिए भाषा द्वारा विश्व-विजय की यह आकांक्षा केवल झूठी दुराशा पालने की बात ही है।

किन्तु एक बात है जो करने की है और जो हमें करनी चाहिए वह है विदेशों में रहने वाले भारतीयों को हिन्दी पढ़ने के लिए प्रेरित करना। किन्तु अभी तो हम भारत में ही भारतीयों को हिन्दी पढ़ने के लिए प्रेरित नहीं कर पा रहे हैं। हिन्दी में साहित्येतर विषयों की उत्कृष्ट पुस्तकों की 500 तक प्रतियाँ भी बरसों तक नहीं बिकतीं, इसलिए उन्हें कोई प्रकाशक प्रकाशित नहीं करना चाहता। पुस्तकालय भी पहले अंग्रेजी की पुस्तकें ही खरीदते हैं। कम से कम हिन्दी-क्षेत्र में यह स्थिति हैं। कहते हैं बंगला, तमिल आदि में स्थिति उतनी बुरी नहीं है। तो यदि हिन्दी के लिए कुछ करना है तो पहले हिन्दी भाषा-भाषियों की मानसिकता बदलें, पीछे अपने शेष देश की।

(साभार : भारतीय दर्शन के 50 वर्ष, सम्पादक : अम्बिका दत्त शर्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर (म.प्र.), 2006)

पी-51, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, टोंक रोड,
जयपुर (राज.)—302018

तुलनात्मक भारतीय साहित्य

–रमेशचन्द्र शाह

तुलना करना–दिखाई-सुनाई देनेवाली वस्तुओं या विषयों के बीच–उनके आकार-प्रकार, रंग, स्वाद इत्यादि गुणों को लेकर, या सर्वाधिक स्थूल रूप में 'मात्र' को लेकर–मानवीय मन की सहज-स्वाभाविक-सी वृत्ति है। यह तुलना वस्तुओं के बीच विभेद करने के लिए–विभेदक लक्षणों की खोज करने के लिए भी होती है, और समानता या सादृश्य खोजने के लिए भी। हर भाषा के व्याकरण में विशेषणों की कोटियाँ गिनाते हुए एक कोटि 'कंपैरेटिव डिग्री' की भी होती है। 'अच्छा' या 'बुरा', हल्का या भारी, स्वादिष्ट या अरुचिकर सरीखे सरल विशेषण काफी नहीं पड़ते अपने ऐंद्रिक या भाविक या तार्किक अनुभव को बताने-बखानने के लिए। बेहतर-बदतर, कमतर-श्रेष्ठतर, लगाए बिना काम नहीं चलता। विवेक करना, विविक्त करना, दो समान या असमान वस्तुओं या गुणों के बीच उत्कृष्टता या निकृष्टता का निर्धारण करना, किसी निर्णय पर पहुँचना, अपने अनुभव को परिभाषित करना, अपनी रीझ-बूझ, राग-द्वेष की सही-सही समझ और परख करना अनिवार्य है उस बुद्धि के लिए, जिसे 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' (फैकल्टी ऑव जजमेंट) कहा जाता है और जो हम सभी में होती है, रोजमर्रा के जीवन में भी क्षण-प्रतिक्षण काम आती है और गंभीर-मूल्यवान् नैतिक या आस्वादपरक निर्णयात्मक गति-विधियों में भी। साहित्य भी मानव जीवन की ऐसी ही मूल्यवान और गंभीर गतिविधियों में महत्त्व का स्थान रखता आया है। अंग्रेजी के प्रख्यात आधुनिक आलोचक एफ.आर. लीविस का कहना है कि ''साहित्य में सचमुच रुचि होने का अर्थ ही है– मनुष्य, समाज और सभ्यता में गहरी दिलचस्पी होना'' (A real literary interst is an interest in man, society and civilization) इसका क्या मतलब हुआ? यही न, कि साहित्य ऐसी विभूति है जिससे हमें मनुष्य को, मनुष्यों के समाज को तथा मानव-सभ्यता नाम की चीज को भी उसकी समग्रता में– उसके समस्त गुणों-अवगुणों के साथ समग्रता में यथातथ्य समझने-स्वायत्त करने में मदद मिलती है। तब फिर उसकी समझ विकसित करना, उसका मूल्यांकन करना भी उतना ही आवश्यक कार्य हो जाता है जितना उसे उपजाना-रचना। जाहिर है कि इस रीझ-बूझ और मूल्यांकन की, यानी, आलोचना की प्रक्रिया में वह 'तुलना' करने की सहज वृत्ति भी अपना कार्य करेगी ही अनिवार्यतः। यानी, आलोचना कर्म की एक घटक तो कम-से-कम वह होगी ही।

अपने जीवन में जो पहली ही आलोचना मेरे पढ़ने में आई—आज से कोई पचपन बरस पहले, जब मैं स्कूल में पढ़ता रहा हूँगा और जब आलोचना किस चिड़िया का नाम है, इसकी खबर तक मुझे नहीं थी—तब, यूँ ही संयोगवश, रद्दी में हाथ लग गई थी मेरे वह किताब, और इतनी स्वादिष्ट, इतनी चटपटी-रसेदार लगी थी वह मुझे कि पूरा किए बिना कल नहीं पड़ी। उपन्यास कहानी पढ़ने का जबर्दस्त नशा चढ़ा हुआ था मुझे उन दिनों। मगर वह तो उपन्यास नहीं था। वह तो मुझे खूब अच्छी तरह याद है— बिहारी के दोहों पर लिखी गई किताब थी और लेखक का नाम भी मुझे याद है— पं. पद्मसिंह शर्मा। आलोचना नाम की चीज से वह मेरी पहली ही मुठभेड़ थी और क्या ही जबर्दस्त और दिलचस्प मुठभेड़। यह तो बाद में समझ में आया और तभी पता चला कि वह 'तुलनात्मक आलोचना' की किताब थी और उसमें इतना रस इसीलिए आया था कि एक से एक उर्दू, प्राकृत, संस्कृत या हिन्दी कवियों की रचनाओं को तराजू के दूसरे पलड़े पर रख के तौलते हुए उन्हें बिहारी से कमतर दिखाया गया था।

वैसा—ठीक वैसा—मजा मुझे बहुत बाद में—अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई के दौरान डॉ. जॉनसन की एक समालोचना को पढ़ते हुए मिला जिसमें अलेक्जेंडर पोप और ड्राइडन नामक दो बड़े कवियों की तुलनात्मक आलोचना की गई थी। डॉ. जॉनसन को निर्णयात्मक (ज्यूडिशियल) आलोचना का सिरमौर माना जाता है अंग्रेजी साहित्य में। पं. पद्मसिंह शर्मा का तेवर भी कुछ उसी मिजाज का था—अथवा यह कहूँ, कि मेरी याददाश्त पर जो छाप उसकी पड़ी है, वह वैसी ही ज्युडीशियल तेवर की छाप है।

मुझे लग रहा है कि यह तुलना-प्रसंग सर्वप्रथम भाषा-शास्त्रियों के दिमाग की उपज है। जिस दिन विलियम जोंस ने संस्कृत शब्दों के साथ ग्रीक और रोमन शब्दों का, और अन्य योरोपियन भाषाओं जर्मन-अंग्रेजी आदि की शब्दावली का सादृश्य बिठाया और एक मूल भारोपीय भाषा की अवधारणा प्रस्तावित की, उसी दिन यह तय हो गया था कि यह प्रक्रिया आगे भी चलेगी और रंग लाएगी : न केवल तुलनात्मक भाषा-शास्त्र अस्तित्व में आएगा, बल्कि तुलनात्मक अनुशासनों की बाढ़ ही आ जाएगी। कंपैरेटिव फिलॉलॉजी अनिवार्यतः इस खोजी-कुतूहली मानव को न केवल 'कंपैरेटिव माइथोलॉजी' और कंपैरेटिव रेलीजन की शोध करने की उकसाएगी, वरन् 'कंपैरेटिपव लिटरेचर' नामक एक सर्वथा नए अनुशासन की भी नींव डाल देगी। साथ ही, तेजी से बढ़ते हुए भूमंडलीकरण की बदौलत—जो एक तरह देखा जाए तो साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद की ही अनिवार्य परिणति है, दूरियाँ मिटानेवाले चमत्कारी वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ-साथ इस भूमंडलीकरण के चलते 'यूरोपियन लिटरेचर' और 'इंडियन लिटरेचर' के ही वजन पर 'कॉमनवेल्थ लिटरेचर' और 'वर्ल्ड लिटरेचर' विश्वविद्यालय के साहित्य-विभागों में अनिवार्य जगह बनाते जाएँगे। क्या इन चार विषयों का अध्ययन और अध्यापन बिना 'कंपैरेटिव लिटरेचर' के सैद्धांतिक और प्रायोगिक व्यवहार के संभव भी है? निश्चय ही नहीं। तुलनात्मक साहित्य की प्रक्रिया उन सभी में निहित और सर्वनिष्ठ

रूप से शामिल होगी ही।

अब, साहित्य प्रकट होता है भाषा के माध्यम से और भाषाएँ अलग-अलग सभ्यताओं-संस्कृतियों की उपज होने के कारण एक-दूसरे से बहुत अलग होती हैं। इतनी अलग, कि एक ही बड़ी सभ्यता के सदस्य—जैसे यूरोपियन या भारतीय सभ्यता के अंगीभूत प्रदेशों के निवासी भी आपस में एक-दूसरे की भाषा नहीं समझते। भाषा जिस तरह एक समुदाय के लोगों को आपस में जोड़ती है, वैसे ही, दूसरे समुदाय से उन्हें अलगाती भी है। ऐसी स्थिति में एक-दूसरे के साहित्य को—यहाँ तक कि अपनी गहरी सांस्कृतिक एकता को जानने-पहचानने के लिए भी एकमात्र उपाय अनुवाद है। एक जमाना था जब बुद्धिमान लोग भी यही समझते थे कि कविता का अनुवाद तो संभव ही नहीं है। भाषा से उसका संबंध इतना अविच्छेद्य होता है कि जहाँ दूसरी भाषा में अनुवाद करने चलोगे, कविता ही मर जाएगी। डॉ. जॉनसन की एक प्रसिद्ध उक्ति है : ''यदि कविता का दूसरी भाषा में अनुवाद हो सकता, तो कौन कमबख्त भाषा सीखने की जहमत उठाएगा?'' यानी कि आपको कविता पढ़नी है तो जिस भाषा में वह कविता रची गई, उसे पहले सीखिए, अधिकार प्राप्त करिए उस पर, तभी कविता की न्यामत नसीब होगी। नहीं तो नहीं। जॉनसन ने कभी सोचा तक न होगा कि जल्द ही ऐसा भी जमाना आनेवाला है जब उसकी बात गलत साबित जो जाएगी : दुनिया की हर भाषा का श्रेष्ठ साहित्य अनुवाद के जरिए हर किसी की पहुँच के भीतर होगा। सचमुच आज का युग अनुवाद का युग कहा जा सकता है। जितने अनुवाद आज होते हैं, उतने पहले कभी नहीं हुए। अनुवाद आज स्वयं में एक गंभीर अध्ययन-शिक्षण का विषय बन गया है। 'अमेच्योरिश' (शौकिया) की बजाय प्रोफेशलन मानदंडों पर आग्रह किया जाने लगा है।

जमाने से हम सुनते आए हैं कि 'भारतीय साहित्य एक है यद्यपि वह अनेक भाषाओं में रचा जाता है।' साहित्य अकादमी का तो यह 'मोटो'—प्रेरक सूत्र ही है। परंतु क्या हम पूरी तरह आश्वस्त हैं, जागरूक हैं इस बारे में, कि इसका क्या अभिप्राय है और इसके अनुरूप कर्तव्य-पालन हेतु कैसी क्या जिम्मेदारियाँ हमारे ऊपर आ जाती हैं? और क्या हम उन्हें निभा भी पा रहे हैं? भारतीय साहित्य की जिस 'एकता' की बात उक्त सूत्र में मूल प्रतिज्ञा की तरह की गई है, वह भारत की चिरंतन भावात्मक एकता ही नहीं, तो और क्या है? वह चिरंतन एकता सांस्कृतिक एकता रही है और उस एकता का सबसे बड़ा प्रमाण, सबसे बड़ा साधन समस्त भारतीय भाषाओं में रचा गया साहित्य ही है। मगर क्या वह भावात्मक और सांस्कृतिक एकता ही आज सर्वाधिक संकटापन्न नहीं दीखती? क्या राष्ट्रीय एकता की भावना और क्या एक पुष्ट और सुदृढ़ आत्म-बिंब, दोनों ही दृष्टियों से हमारी वर्तमान स्थिति दुर्बल और चिंताजनक है। जाहिर है कि इस हालत का समुचित निदान और प्रतिकार किए बिना स्वयं हिन्दी भाषा और साहित्य की वैश्विक तो क्या, राष्ट्रीय भूमिका भी प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। जिस अनुशासन को यहाँ हम तुलनात्मक भारतीय साहित्य के रूप में पहचानना और बरतना चाहते हैं, वह भी इसी निदान और प्रतिकार का एक

साधन बनकर ही अपनी सार्थकता साबित कर सकता है।

मैं नहीं जानता हमारे यहाँ तुलनात्मक भारतीय साहित्य स्वतंत्र विषय के रूप में अथवा हिन्दी साहित्य के एक अंग के रूप में कहाँ-कहाँ पढ़ाया जा रहा है। जादवपुर विश्वविद्यालय में काफी पहले 'कंपैरेटिव लिटरेचर' की बाकायदा पढ़ाई शुरू हुई थी। मेरी जानकारी में जोधपुर विश्वविद्यालय ने कई वर्ष पूर्व 'तुलनात्मक भारतीय साहित्य' विषय की पढ़ाई के आरंभ की पहल की थी और उसी के लिए विभागाध्यक्ष के तौर पर स्व. अज्ञेय को आमंत्रित किया था। किन्तु उस प्रारंभ की गति 'प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः' वाली ही हुई। अज्ञेय जी स्वयं दो-चार माह बाद ही उसे छोड़कर चले गए। यह मैं इसलिए जानता हूँ कि मुझे भी उन्होंने उस विभाग में सहयोग के लिए बुलाया था। मुझसे पहले जो एकमात्र नियुक्ति हुई थी, वह उल्लेखनीय अनुवादक श्री युगजीत नवलपुरी की हुई थी। अज्ञेय वहाँ गए थे तो बड़ी उम्मीद लेकर गऐ थे; इस विषय की उजली संभावनाओं को लेकर कई योजना उनके दिमाग में थीं। किन्तु इतनी जल्दी उनका मोहभंग हो गया, इसी से जाहिर है कि हमारी कार्यक्षमता क्या है। चूँकि मैं भी नहीं गया, मुझे नहीं मालूम कि उस विभाग का अंततः हुआ क्या।

ऐसे आधे-अधूरे मन से, अथवा महज अनुकारी महत्त्वकांक्षा से प्रेरित होकर किए गए कार्य का कोई मतलब नहीं है। हमें सर्वप्रथम यह अपने तईं स्पष्ट कर लेना होगा कि इस नए अनुशासन की हमें जरूरत है कि नहीं? अगर है तो वह जरूरत क्या है? उससे हमारे भाषा-विभागों, साहित्य-विभागों को, अथवा भारतीय साहित्य की हमारी मौजूदा समझ में क्या इजाफा होगा? वह लाभ पाने के लिए हमें क्या करना होगा—किस तरह का ढाँचा खड़ा करना होगा? क्या-क्या संसाधन जुटाने होंगे? तुलनात्मक भारतीय साहित्य, यानी भारतीय भाषाओं में विभिन्न कालों में रचे गए और रचे जा रहे साहित्य के वैविध्य और उसमें अंतर्निहित समान-असमान तत्त्वों या प्रवृत्तियों की खोज या जाँच-पड़ताल। ताकि ऐसे एकाग्र अध्ययन से हमें आज के बदले हुए संदर्भों में भी उस अपनी महाद्वीपीय भावात्मक एकता की सही-सही और पुष्ट पहचान हासिल हो सके, जो हजारों वर्षों के दौरान हमने कमाई और सिद्ध की थी। जिस वास्तविक पूँजी के प्रमाण हम भारतीय साहित्य के ही आंतरिक साक्ष्यों में पाते रहे हैं। प्रमाण भी और साधन भी।

अब, यहाँ पहली बात जो ध्यान में आती है और जोर देकर कहने की है, वह यह, कि भारत में भले अनेक—एक दूसरे से काफी अलग—भाषाएँ विकसित हो रही हों—वास्तव में यह पूरा देश एक समन्वित भाषा क्षेत्र है। संस्कृत भाषा और वाङ्मय का अजस्र प्रवाह भारतीय मन या कि चेतना को एक सूत्र में अंतर्ग्रथित करता रहा है। बोल-चाल की भाषाएँ तो स्वभावतः बदलती रही हैं। किन्तु सारे बदलावों के बावजूद संस्कृत के प्रभाव से उन सभी के बीच एक अंतरंग संबंध रहा है। जैसा कि हमारे एक जाने-माने विचारक और इतिहासज्ञ प्रो. गोविंदचंद्र पांडे का कहना है, ''प्रत्येक भाषा की रचना में अनुभव के विश्लेषण का एक मौलिक प्रकार निहित रहता है।

संस्कृति की वाहक होने के नाते उसमें पारस्परिक विचारों, भावों और रूढ़ियों को व्यक्त करने के सुनिश्चित संकेत बने रहते हैं। इस प्रकार भाषा का जो ध्वन्यात्मक, स्थूल प्राकृतिक अनुभव को व्यक्त करने वाला सतही रूप है, उसके पीछे एक सूक्ष्म अंतर्नाद की तरह उसमें सांस्कृतिक चेतना ध्वनित होती है।'' कहना न होगा कि इस अंतर्नाद के रूप में, या कहें इस सूक्ष्म मन की भाषा के रूप में संस्कृत सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में अंतर्व्याप्त है। किन्तु इसका उल्टा मतलब लगाते हुए जो उल्टी खोपड़ी के लोग यह तर्क देते हैं, हिन्दी के विरोध में, कि संस्कृत एक पुरानी और समृद्ध भाषा है, जबकि हिन्दी या अनेक भारतीय भाषाओं के बारे में यह नहीं कहा जा सकता, उनको यह समझना चाहिए कि संस्कृत की विरासत सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं को सहज ही उपलब्ध हैं। हिन्दी के साथ तो एक से एक समृद्ध बोलियों का विस्तृत जलागम क्षेत्र जुड़ा हुआ है और साथ में संस्कृत की अंतःसलिला। चूँकि हिन्दी का क्षेत्र या देश तमाम बाहरी प्रभावों को भी सोखता और पचाता रहा है, अतः अपने संस्कारगत अस्तित्व में गहरे धँसी होने के साथ ही संवेदना के स्तर पर वह सर्वाधिक वेध्य और खुली रही है। परिस्थिति और संस्कृति के बीच संतुलन बिठाते रहने का सुदीर्घ अनुभव और अभ्यास उसका रहा है। दूसरे शब्दों में, एक ओर पुरातन परंपरा के संरक्षण और पुनर्नवीकरण का उद्यम उसे लगातार हजार बरसों से करते रहना पड़ा है, तो दूसरी ओर तमाम तरह के आघातों-प्रभावों को भी पचाने और अनुकूलित करने की प्रक्रिया में भी वह सहज ही दीक्षित होती रही है। इस तरह वह आज से नहीं, बल्कि अपने उद्‌भव-काल से ही आधुनिक यानी आगे देखने वाली भाषा रही है। यानी, साहित्य में जिस भावबोधपरक प्रगतिशीलता और अग्रगामिता का सर्वाधिक महत्त्व होता है, वह भावबोधपरक अग्रगामिता का संस्कार सदैव हिन्दी के साथ रहा है। इसी के बूते वह सारे देश के आत्म-नवीकरण हेतु आवश्यक परिवर्तनों का नेतृत्व करती रही है।

तुलनात्मक भारतीय साहित्य जैसे विषय के औचित्य और उपयोगिता को भी इसी उपर्युक्त हकीकत के संदर्भों में ग्रहण करना होगा। तभी उसकी कार्य-योजना और सार्थकता सुस्पष्ट रूप-रेखाओं में हमारे सामने उद्‌भासित होगी। संस्कृत कवि 'इदं कविभ्यो पूर्वेभ्यो' कहकर काम चला सकता था। किन्तु संस्कृत और तत्पश्चात् मध्यकालीन 'भारवा' की सीधी उत्तराधिकारिणी हिन्दी अपने महाकवि से यही कहलवा सकती है कि ''भये, जे अहहिं, जो होइहहि आगे/प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे...''। आखिर कोई बात होगी कि कई ऐसे समर्थ लेखकों ने भी आत्माभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में हिन्दी को ही चुना जिनकी शिक्षा-दीक्षा संस्कृत या अंग्रेजी की थी और मातृबोली या मातृभाषा भी हिन्दीतर थी। जैसे गुलेरी, जैसे मुक्तिबोध, या स्वयं अज्ञेय। बल्कि, मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि जो जितने ही दूर से, जितने ही तिरछे कोण से, जितने ही दूर और अलग भाषा-परिवेश का संस्कार ग्रहण करने के बाद हिन्दी में आया—जैसे निराला, वह अन्य लेखकों से भी कहीं ज्यादा दूरगामी टंकार पैदा करने वाला लेखक साबित हुआ।

यह भी फिर से याद करने और दोहराने की जरूरत है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग सर्वप्रथम हिन्दीतर प्रदेशों से—बल्कि भारत के दो महानगरों—मुंबई और कोलकाता से उठी थी। क्या यह घटना अपने आप में हिन्दी के सार्वदेशिक चरित्र और संयोजन-शक्ति की स्वतः स्फूर्त स्वीकृति नहीं थी? स्वतंत्रता-सेनानी और हिन्दी कविता में आधुनिक भाव-बोध के अग्रगामी उन्नायक अज्ञेय ने भी हिन्दी को अगर 'समग्र भारतीय अस्मिता की संवाहक' और भारत के हृदय की कुंजी निरूपित किया है तो यूँ ही नहीं किया है। क्या यह हमारा सार्वजनिक दुर्भाग्य ही नहीं है कि हम हिन्दी के श्रेष्ठतम सर्जकों और चिंतकों के अंतःप्रमाण पर ध्यान न देकर नितांत अनधिकारी, विचारमूढ़ और घटिया राजनीति से परिचालित प्रपंचबुद्धियों के बहकावे में आ जाते हैं? जबकि सर्जकों और विचार-समर्थ लेखकों की साखी ही हमारे लिए प्रामाणिक होनी चाहिए। उसी से हम अपनी-यानी, हिन्दी की वास्तविक जिम्मेदारी और वास्तविक सामर्थ्य का सही-सही बोध और दिशा-ज्ञान भी पा सकते हैं। वह दिशा है—हिन्दी को संस्कृत की तरह हमारी नवजागृत राष्ट्रीय संस्कृति का निर्विवाद समर्थ माध्यम बनाना और साथ-ही-साथ, उसे विश्व-संस्कृति का वैकल्पिक माध्यम स्वीकार कर विश्वभाषा बनाना।' हिन्दी प्रदेश में ही 'तुलनात्मक भारतीय साहित्य' सरीखे अपेक्षाकृत नए अनुशासन की परिकल्पना और आयोजना इन दोनों बातों से जुड़कर ही सार्थक होगी। इस अभीप्सा और कार्य-योजना में हिन्दी का किसी भी अन्य भारतीय भाषा से विरोध या होड़ की गुंजाइश ही नहीं है। हमें देश के उत्तर और दक्षिण तथा पूरब और पश्चिम की परस्पर निकट भाषाओं को चार समूहों में रखते हुए उनमें रचे गए और अद्यावधि रचे जा रहे साहित्य को राष्ट्रीय संस्कृति की रचना के चार धामों की तरह पढ़ना और विवेचित करना होगा। परम्परा और आधुनिकता दोनों ध्रुवों के बीच प्रवहमान विद्युत्तरंग के रूप में इस साहित्य को उसे विराट् वैविध्य में विवेचित करना होगा। तभी उनमें अंतर्निहित एकता के अनुसंधान का पथ प्रशस्त होगा। ऐसे विद्वानों को एकत्र करना होगा जो एक साथ कई भारतीय भाषाओं में निष्णात भले न हों, किन्तु हिन्दी की विशेष और संस्कृत की प्राथमिक अभिज्ञता के साथ कम-से-कम उक्त भाषा समूहों में से किसी एक भाषा—मसलन बंगला, मराठी, मलयालम के समर्थ भाषिक और साहित्यिक प्रतिनिधि तो अवश्य हों। कहने की आवश्यकता नहीं कि अलग से संस्कृत और प्राकृत के विद्वानों का भी सक्रिय सहयोग इस 'तुलनात्मक भारतीय साहित्य' विषय को प्रतिष्ठित करने और कार्यक्षम बनाने हेतु परमावश्यक होगा। इसके साथ-ही-साथ समर्थ अनुवादकों का भी सहयोग अनिवार्य होगा। ऐसे सर्जकों का भी, जो एकाधिक भाषाओं में रचना करते रहे हैं।

पर इसी जगह एक बड़ा भारी गड्ढ़ा हमें दिखाई देने लगता है जिसे पहले ही यथावत् स्वीकार लेना होगा। हमने ऊपर कहा कि भारत में अनेक भाषाओं का प्रचलन होते हुए भी वह एक समन्वित भाषा-क्षेत्र है। संस्कृत भाषा और समान संस्कृति के व्यापक प्रभाव से सभी भाषाओं में एक गहरा रागात्मक साम्य है। इस बात का प्रमाण यह है कि किसी भी भारतीय भाषा से

दूसरी भारतीय भाषा में अनुवाद अनायास किया जा सकता है। ऐसे समन्वित क्षेत्र में सांस्कृतिक आदान-प्रदान और व्यवहार के लिए एक ही भाषा सब जानते हों, यह जरूरी नहीं है। जरूरत है दुभाषियों की और पारस्परिक अनुवादों की। यूरोप का उदाहरण सामने है। वहाँ किसी एक भाषा का प्रचलन न होने पर भी शैक्षणिक, शास्त्रीय और सांस्कृतिक आदान-प्रदान में किसी तरह की कमी नहीं है। तुलना में हमारा हाल देखिए। भारतीय भाषाओं के एक-दूसरे से अनुवाद कितने विरल हैं! न सार्वजनिक सरकारी और वैधानिक विचार-विमर्शों के मौके पर समकालिक अनुवाद की व्यवस्था है। यह काम अंग्रेजी को सौंप दिया गया है जो कहीं से भी भारतीय जन की, लोक की भाषा नहीं है। कुछ लोग संस्कृत को हिन्दी की जगह राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने की वकालत करते हैं जबकि उसके सांस्कृतिक महत्त्व तक की कोई चिंता हमारे शिक्षा जगत् में सक्रिय नहीं है। संस्कृत का आरंभिक ज्ञान भी न रखने वाला छात्र हिन्दी या अंग्रेजी का ग्रेजुएट, पोस्ट-ग्रेजुएट हो सकता है जबकि इस पृष्ठभूमि के बिना उसकी हिन्दी या अंग्रेजी का ज्ञान अधूरा और असमर्थ ही रहने वाला है। पराधीन भारत के स्कूलों तक में संस्कृत की ऐसी सरासर अवहेलना नहीं थी जैसी आज की भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में है। हमें कम-से-कम सातवें-आठवें दरजे में हिन्दी विषय के अंतर्गत ही बीस नंबर की संस्कृत तो पढ़ाई जाती थी। आज उतना भी स्थान संस्कृत को प्राप्त नहीं है। जहाँ तक विश्वविद्यालयी शिक्षण का संबंध है, सरकारी नीति में संस्कृत के लिए वही और उतना ही स्थान है जो विदेशी विश्वविद्यालय में होगा। अर्थात् वह ऐच्छिक अध्ययन का विषय है, उसका सामान्य शिक्षा या जनशिक्षा से कोई संबंध नहीं है। ऐसी हालत में तुलनात्मक भारतीय साहित्य की बात करना अनधिकृत बुद्धि विलास ही नहीं, तो क्या है? अगर इस शर्मनाक और सोचनीय स्थिति में तत्काल सुधार नहीं किया गया तो निश्चय जानिए, वह आधारभूत संपर्क-सूत्र ही विच्छिन्न हो जाने वाला है जो भारत के वर्तमान को भारत के अतीत से जोड़ता है और उसकी विभिन्न भाषाओं को उनकी जड़ों पर जोड़ता है।

प्रस्तुत प्रसंग में भी—क्या वह दुर्भाग्य की बात नहीं है कि संस्कृत की विश्वविख्यात क्लासिक रचनाओं का तथा अंग्रेजी की भी श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों का भी हिन्दी में समर्थ और पठनीय-पाठनीय अनुवाद उपलब्ध नहीं है। पहले तो आप यह कह के पीछा छुड़ा लेते थे कि अधिकांश हिन्दी के विद्वान् और लेखक संस्कृति और अंग्रेजी से सुपरिचित हैं (हालाँकि यह भी कोई कारण नहीं बनता) किन्तु अब तो ऐसी स्थिति नहीं रही। मैं अंग्रेजी के अध्यापन के अपने सुदीर्घ अनुभव तथा हिन्दी के छात्रों की भी पढ़ाई से बखूबी परिचित होने के आधार पर यह कह सकता हूँ कि स्नातक, परा-स्नातक स्तरों के छात्र भी कालिदास एवं भवभूति से परिचित नहीं होते हैं। वेद-उपनिषद् या महाकाव्यों की तो बात ही दूर। शिक्षा-व्यवस्था की ऐसी भयावह अधोगति को पलटे बिना ऐसे किसी भी ऊपरी चमक-दमक वाले उपक्रमों की क्या उपयोगिता बनेगी—सोचने की बात है। तो सबसे पहले तो हमें इसी जरूरत के प्रति सचेष्ट होना होगा कि साहित्यिक कृतियों

का अनुवाद अपने आप में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। जो थोड़े से अच्छे अनुवाद हैं भी, उनकी भी अपने विभागीय पुस्तकालयों में उपलब्धि विरल ही देखी गई है। ज्ञानपीठ या भारतीय भाषा संस्थान, कोलकाता या अन्य जगहों से प्रकाशित संस्कृत या हिन्दीतर भाषाओं की प्राचीन या आधुनिक कृतियों के जैसे जो भी अनुवाद छपे हैं, क्या वे भी हमारे विद्यालयों में सुलभ होते हैं। कितना क्या छपा है, इसकी जानकारी तक अध्यापकों या छात्रों को होती है? यूरोप को देखिए, हर सदी में होमर और वर्जिल के ही नहीं अन्य अनेक क्लासिक कृतियों के नए सिरे से अनुवाद और अद्यतन अनुवाद निकलते रहते हैं। उन अनुवादों से मूल ग्रंथों की नई व्याख्या और नया मूल्यांकन संभव होता है। अन्य भाषाओं के कालजयी साहित्य का यथावत् अनुवाद अनुवाद की भाषा को भी नई संवेदनशीलता और समृद्धि प्रदान करता है। सब जानते हैं कि संस्कृत साहित्य ने मध्यकालीन भारत और समस्त भारतीय साहित्य के विकास में कितना योगदान दिया था। रामनरेश त्रिपाठी का एक लेख मुझे यहाँ स्मरण आ रहा है जिसमें उन्होंने बाकायदा सोद्धरण दर्शाया था कि 'रामचरितमानस' के पीछे कितने सारे संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन की पीठिका थी। यही बात अंग्रेजी साहित्य से हमारे संबंध पर भी लागू होती है। श्रीधर पाठक द्वारा गोल्डस्मिथ के 'द ट्रेवलर' का अनुवाद या भारतेंदु द्वारा किए गए 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' के अनुवाद या रांगेय राघव तथा बच्चन द्वारा किए गए शेक्सपीयर के अनुवादों का हवाला दिया जा सकता है। पर, स्पष्ट ही, उतना पर्याप्त नहीं है—इस तथ्य को मद्देनजर रखते हुए, कि भारतीय विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई इंग्लैंड से भी पहले शुरू हो चुकी थी। दार्शनिक के.सी. भट्टाचार्य तक ने इस पर आश्चर्य और क्षोभ प्रकट किया है कि क्यों डेढ़ सौ बरस की अंग्रेजी की पढ़ाई के बावजूद भारतीय काव्यशास्त्रीय मानदंडों के अनुसार शेक्सपीयर या मिल्टन सरीखे कृतिकारों को परखने की प्रेरणा किसी भारतीय अंग्रेजी पढ़े-लिखे आलोचक को नहीं हुई।

आधुनिक हिन्दी साहित्य पर भी अंग्रेजी साहित्य की छाया पड़ी है; पर संप्रति वह छाया नितांत समकालीन पाश्चात्य साहित्य की होती जा रही है। पहले की तरह अब इस प्रभाव-ग्रहण की प्रेरणा किसी कालजयी कृति का सांस्कृतिक आत्मसात्करण नहीं है, बल्कि समसामयिकता के बहाव में होने का प्रदर्शन है, अपने को यह आश्वसन दिलाना है कि हम इतिहास की दोड़ में पीछे नहीं छूटे हैं। पर इस होड़ से क्या लक्ष्य सिद्ध होता है, विचारणीय है। इतिहास-बोध, जिसकी हमें जरूरत है? या वह अवस्थिति-बोध जो हम भारतीयों की पारंपरिक विशेषता रही है? दोनों में क्या कोई गुणात्मक समृद्धि आ रही है इस अद्यतन दीखने की होड़ में पड़ने से? ऐसे भरोसा खुद को दिला पाना मुश्किल है।

तो...इस तुलनात्मक भारतीय साहित्य पद को सचमुच सार्थक करने के लिए, उसे सचमुच के पदार्थ में परिणत करने के लिए हमें अपनी समकालीन भाषिक-साहित्यिक-सांस्कृतिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि और अग्रभूमि को—जिसका यत्किंचित् संकेत हमने उभारने की कोशिश की है—उसे

ध्यान में रखना आवश्यक है। अभी तो यह हालत है कि हमारे स्कूलों-महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तक में सगोत्री विषयों का परस्पर रोचक और फलप्रद रिश्ता ही बनने के लाले पड़े हुए हैं। आज जबकि अंतर-अनुशासनिक गतिविधियों का महत्त्व स्वीकारा जा रहा है सर्वत्र, इसलिए कि विशेषज्ञताओं की बाढ़ में ज्ञान की मूलभूत एकता केक ही विस्मृत कर दिए जाने का खतरा व्यापक स्तर पर महसूस किया जा रहा है, यह भी स्पष्ट है कि 'तुलनात्मक भारतीय साहित्य' जैसे विषयों की परिकल्पना के पीछे इस अंतर-अनुशासनिक आग्रह का भी निश्चित योग होगा। किन्तु अन्याय क्षेत्रों की तरह हम यहाँ भी छायाजीवी बनकर ही न रह जाएँ, यह सजगता और सावधानी बरतना हमारे लिए सबसे पहले आवश्यक है। क्या हमारे विद्यालयों के संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी के प्राध्यापक कभी आपस में मिल-बैठकर साहित्य-चर्चा करते हैं? साहित्य की परंपरागत और अद्यतन उपलब्धियों या समस्याओं पर परस्पर विचार-विमर्श के लिए प्रेरित-उत्साहित होते हैं या कि ऐसा करने की जरूरत महसूस करते हैं? अगर नहीं, तो फिर एक और विभाग अलग-थलग खोलने का क्या औचित्य है? इस पर हमें यथार्थ और आदर्श दोनों धरातलों पर सम्यक् विचार करना होगा। उपलब्ध संसाधनों की शोध और उनके भरपूर इस्तेमाल (प्रयोग) के क्या तरीके हो सकते हैं, इसका भी पता लगाना होगा। मैंने एक संगोष्ठी में कहा था कि अगर हमें स्वतंत्रता की देहरी पर सचमुच भारतीय भाषाओं की एकता चिंता होती और साहित्य के महत्त्व को—भारत की समग्र अस्मिता को धारण करने वाले साहित्य के महत्त्व का—सचमुच कुछ भी भान होता तो 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' से भी पहले हमारे कर्ता-धर्ताओं ने 'नेशनल स्कूल ऑफ ट्रांसलेशन' की स्थापना की होती। समर्थ अनुवादकों की तगड़ी टीम के बिना यह 'तुलनात्मक भारतीय साहित्य' नामक विषय की इमारत खड़ी करने का सपना चरितार्थ नहीं हो सकता। बहरहाल देर आयद दुरुस्त आयद हो सकता है, उलटी दिशा से ही शायद यह काम हो सके और इस विषय के निमित्त से ही अनुवाद कार्य को भी प्राथमिकता मिले।

हिन्दी का प्रचार-प्रसार धीमी गति से ही सही, दक्षिण भारत और पूर्वोत्तर राज्यों में हो रहा है। हिन्दी जानने वाले, हिन्दी में अपनी-अपनी मातृभाषा के उपलब्ध साहित्य का सक्षम अनुवाद करने में समर्थ लोग भी होंगे ही। फिर भी भारतीय भाषाओं के बीच आदान-प्रदान की, साहित्यिक मेल-जोल की गति-विधि असंतोषजनक ही कही जाएगी। हिन्दी में तो फिर भी— समकालीन बंगला, असमिया, गुजराती, मराठी, तामिल, मलयालम आदि की रचनाओं के अनुवाद यत्र-तत्र दिखाई दे जाते हैं। कुछ उपन्यास, कहानी-संग्रह और कविता संग्रह भी प्रकाशित हो जाते हैं और मूल भाषा के परिवेश से कहीं अधिक व्यापक प्रतिष्ठा प्राप्त करते देखे गए हैं। किन्तु यह प्रक्रिया इकतरफा ही है। हिन्दी साहित्य की उत्कृष्ट उपलब्धियाँ अन्य भारतीय भाषाओं में बहुत कम रूपांतरित हुई है। वैसा उत्साह और उत्सुकता हिन्दी साहित्य के प्रति कहीं नजर नहीं आती। इस बारे में भी सचेत उद्योग आवश्यक है। इस उदासीनता का एक कारण तो यह समझ में आता

है कि खुद हिन्दीवालों में अन्य भारतीय भाषाओं को सीखने की वैसी तत्परता नहीं दीखती। किन्तु इस अपरिचय के चलते नुकसान यह होता है कि अन्य भाषा-भाषियों को हिन्दी की साहित्यिक क्षमता और ठोस सृजन-चिंतनात्मक उपलब्धियों का बहुत कम अहसास है। यह बात मैं बंगला और कन्नड़ के लेखकों से अपने व्यक्तिगत संपर्क और सीधी जानकारी के बूते कह रहा हूँ। ज्यादातर लोगों—यहाँ तक कि साहित्य क्षेत्र के लोगों में भी हिन्दी की भाषिक और सृजनात्मक सामर्थ्य को लेकर निराधार संशय और भ्रांत धारणाएँ ही काम करती देखी जाती हैं। यह बहुत सोचनीय स्थिति है और इसका समुचित उपचार होना चाहिए। बहरहाल...कहने का आशय यही कि कई दिशाओं में सजग अध्यवसाय की आवश्यकता है तभी भारतीय साहित्य में बिंबित राष्ट्रीय यथार्थ और राष्ट्रीय आदर्श दोनों का समेकित और समग्र स्वरूप उभरकर आएगा और जनमानस को भी आंदोलित करेगा। तुलनात्मक भारतीय साहित्य के बाकायदा अध्ययन की लीक तो जब पड़ेगी, तब पड़ेगी। तब तक, फिलहाल, उस दिशा में जैसी जितनी भी सामग्री हमें उपलब्ध है, नेशनल बुक ट्रस्ट, या भारतीय ज्ञानपीठ, या भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता, या ग्रंथ अकादमियों इत्यादि से, उसी का संग्रह और आकलन आरंभ कर देना चाहिए। साथ ही यदि हम हिन्दी साहित्य की पढ़ाई में एक वैकल्पिक (अथवा अनिवार्य) परचा ही स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में 'तुलनात्मक भारतीय साहित्य' का लगा सकें और उसके लिए आवश्यक पाठ्य-सामग्री सुलभ कर सकें तो उतना भी बहुत होगा। इत्यलम्...अलमतिविस्तरेण...।

(हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत उद्घाटन व्याख्यान)

एम-4, निराला नगर
भदभदा रोड, भोपाल
मध्यप्रदेश—462003

बुन्देली भाषा-संस्कृति : इतिहास के अस्तित्व का संकट

– राजेन्द्र यादव

भाषा –

बुन्देली भाषा आज एक हज़ार वर्ष की लम्बी यात्रा करते हुए हमारे साथ है। बुन्देली भाषा आज अपने ही मात्रा भाषियों के बीच अपनी उपेक्षा से जूझ रही है। खड़ी बोली हिन्दी की एक सहायक बोली होने के बावजूद बुन्देली भाषा की आधुनिक संचार माध्यमों में उपेक्षा के कारण लगातार बुन्देली, बुन्देलखण्ड के जन मानस के जीवन की भाषा नहीं बन पा रही है। प्रदेश सरकार के स्कूलों सहित पब्लिक स्कूलों के शैक्षणिक प्रयोजन से बुन्देली समय से बाहर है। अब जब घर में अभिभावक और स्कूल में शिक्षक बुन्देली बोलने पर सजा देंगे तो आने वाली नई पीढ़ी न बुन्देली बोलेगी, और न बुन्देली समझेगी। बुन्देली अरूचि के संदर्भ में आर्थिक सामाजिक सम्बन्ध और प्रयोजन भी महत्वपूर्ण है, **''बुन्देलखण्ड के ग्रामीण अंचलों में भी लोग मानक भाषा के शब्दों का उपयोग करने लगे हैं। वे मानक भाषा के समाचार पत्रा-पत्रिकाएँ पढ़ते हैं। तथा बाहर से आने वाले व्यक्ति से (अन्य राज्य के) शुद्ध हिन्दी में बात करने का प्रयास करते हैं।''**[1] बुन्देली की इसी उपेक्षा ने उसे सीमित कर दिया।

आज वही भाषा फल फूल रही है जिसको संचार माध्यमों द्वारा उपयोग किया जाता है। इस अर्थ में बुन्देली भाषा आधुनिक जन संचार माध्यमों की गहरी उपेक्षा का शिकार हुई है। राज्य बन जाने के कारण छत्तीसगढ़ी बोली को सरकारी संरक्षण मिला और छत्तीसगढ़ी बोली से भाषा बन गई। अनेक टेलीविजन चैनल और एफ.एम. रेडियो, दूरसंचार विभाग आदि ने छत्तीसगढ़ी को एक भाषा के रूप में मान्य कर लिया है। वहाँ समाचार लोग छत्तीसगढ़ी में सुनते हैं, पर सागर, छतरपुर, झाँसी सहित म.प्र. और उ.प्र. के 16 जिलों की मातृ-भाषा होने बावजूद सरकार बुन्देली भाषा और संस्कृति को संरक्षण नहीं देती। इसीलिए खेती किसानी और मनोरंजन के इक्का-दुक्का प्रोग्राम भर बुन्देली में रेडियो पर उद्घोषक द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं, सरकार बुन्देलखण्ड का अस्तित्व ही नहीं मानती, कारण आधा बुन्देलखण्ड मध्यप्रदेश में है और आधा बुन्देलखण्ड उत्तरप्रदेश में। सत्तर वर्ष देश को आजाद हुए बीत गये दिल्ली की कोई सरकार यह नहीं समझ पायी कि बुन्देलखण्ड को एक सांस्कृतिक इकाई, एक भाषाई क्षेत्र, मानते हुए इसे एक राजनैतिक राज्य के रूप में गठित किया जाना चाहिए। शंकरलाल महरोत्रा, बिठ्ठल भाई पटेल, राजा बुन्देला

और तमाम लोगों ने लम्बे समय शांतिपूर्वक बुन्देलखण्ड राज्य निर्माण की मांग की, पर किसी सरकार ने नहीं सुनी। आज देश में सक्षम जातियाँ आरक्षण मांग रही हैं, केन्द्र की सरकारों को दबाने के लिए हिंसक आंदोलन कर रही हैं पर बुन्देलखण्ड की अस्मिता की सच्चाई को संसद कब मान्यता देगी। यह सवाल आज भी अनुत्तरित है।

विशुद्ध बुन्देली भाषा में न कोई अखबार न रेडियो न टेलीविजय न कोई पत्रिका कुछ नहीं। जबकि बुन्देलखण्ड राज्य बनते ही यह सब सहज रूप से प्रारम्भ हो जायेगा। स्कूल शिक्षा, उच्च शिक्षा, प्रशासन के काम काज की भाषा के रूप में बुन्देली का विकास एक राज्य ईकाई बनने के साथ ही गतिमान हो जायेगा। शिक्षित लोग बुन्देलखण्ड में बुन्देली से दूरी बना रहे हैं। पिछले एक हजार वर्षों से बुन्देली भाषा अवाध रूप से गतिमान रही क्योंकि इस भौगोलिक क्षेत्र के सभी वर्ग समुदाय द्वारा लगातार विचार-विनिमय तथा जीवन के सभी सन्दर्भों सहित लिखित काम काज की भाषा के रूप में बुन्देली का इस्तेमाल करते रहे हैं। लेकिन आज बुन्देली भाषा के अस्तित्व का संकट गहरा गया है। जबसे स्कूल खुले है तभी से स्कूलों में जो भाषा पढ़ाई लिखाई जा रही हैं उनमें बुन्देली को स्थान नहीं मिला है। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी भाषाएँ स्कूली शिक्षा का आधार हैं। उच्च शिक्षा में भी बुन्देली का कोई गंभीर पक्ष नहीं है। अब जब पूरे बुन्देलखण्ड की शहरी, कस्बाई और ग्रामीण आबादी की आने वाली पीढ़ी बुन्देली से अपरिचित होगी तो बुन्देली कैसे और कहाँ बचेगी। आज कुछ मुठ्ठी भर लोग बुन्देली भाषा, साहित्य के संरक्षण की जिद्दो जहद में लगे हैं। बुन्देली साहित्य में गद्य के अतिरिक्त पद्य में कुछ हद तक बुन्देलखण्ड की पहचान एवं समृद्धि में आल्हाखण्ड भी चर्चित रहा है, **''बुन्देली का प्रसिद्ध आल्हाखण्ड विशिष्ट वर्ग की संस्कृति का परिचायक है, परन्तु इसके जनमानस में मौखिक परम्परा से अब भी प्रचलित रहने की दशाओं का आंकलन अपेक्षित है।''**[2] बुन्देलखण्ड से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं में भी बुन्देली भाषा संरक्षण और विकास की कोशिश दिखायी देती है। आधुनिक बुन्देली के अनेक साहित्यकार आज बुन्देली भाषा में हाइकू, गजल, गीत के साथ अब कैलाश मड़बैया जैसे बुन्देली लेखक बुन्देली गद्य को स्थापित करने के संघर्ष में लगे हैं। पिछले वर्ष उनकी बुन्देली गद्य संग्रह का प्रकाशन इस दिशा में किया गया सार्थक हस्तक्षेप माना जा सकता है। महेश कटोर 'सुगम' की आधुनिक बुन्देली गजलों ने बुन्देली भाषा की नई क्षमता का परिचय दिया है।

तमाम सार्थक बातों के बाद बुन्देली वहीं लौट आती है जहाँ से प्रारम्भ हुई थी। वह यह कि शिक्षा प्रशासन, संचार माध्यम और सबसे महत्वपूर्ण शिक्षित समुदाय की उपेक्षा के चलते बुन्देली भाषा के लिखित और बोलचाल के स्वरूप को बचा पाना संभव नहीं होगा। अतः बुन्देली भाषा विलुप्त होने की कगार पर आ गयी है। अब बुन्देली भाषा संस्कृति और इतिहास, पुरतत्व धरोहर को बुन्देलखण्ड राजनैतिक राज्य के निर्मित होने के बाद ही बचाया जा सकता है।

जनतंत्र में समाज और राज्य के सारे फैसले राजनीति करती है इस अर्थ में बुन्देलखण्ड

राज्य की विधान सभा में जब जन प्रतिनिधियों के द्वारा बुन्देली भाषा में विधान सभा की कार्यवाही प्रकाशित होगी तभी बुन्देली भाषा का अस्तित्व बचेगा। संचार माध्यमों, प्रिंट मीडिया, इलेक्ट्रानिक मीडिया, सभी के साथ स्कूली शिक्षा और उच्च शिक्षा में बुन्देली की अनिवार्यता ही बुन्देली भाषा के अस्तित्व की रक्षा कर पायेगी।

संस्कृति –

बुन्देली लोक संस्कृति की आत्मा बुन्देलखण्ड के लोक जीवन में बसती है। प्राचीन काल से कृषि आधारित अर्थ व्यवस्था में जीवन यापन करने वाले बुन्देली समाज में बीसवीं शताब्दी के विकास और तकनीकि ने बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक परिवर्तन घटित कर दिये हैं। बुन्देलखण्ड के सामाजिक जीवन में सामूहिक रूप से कृषि और उससे जुड़े तीज त्यौहार यहाँ की सांस्कृतिक विरासत को व्यक्त करते आ रहे हैं। खेत-खलिहान पर आश्रित बुन्देली संस्कृति की सैकड़ों वर्ष पुरानी सांस्कृतिक धारा में आज लगातार बदलाव दर्ज किये जा सकते हैं। अतः इन सारी समस्याओं का कारण उक्त कथन में हम देख सकते है **''सारी गड़बड़ियों का आधार आर्थिक है, इसी से जुड़ी है, हमारी संस्कृति, धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियाँ और विश्वास पर ये सब अब तहस नहस हो रहे हैं।''**[3] यहाँ का जीवन उसके उत्सव, नृत्य, गीत सभी का संबंध खेतों और फसलों से रहा हे। खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, में आज बुन्देली पारम्परिक सामाज भी बदल रहा है किन्तु इसके बावजूद **''सन् 1950 के बाद बुन्देली समाज में कुछ गति आई किन्तु उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ है। अतः यह कहना श्रेयस्कर है, कि सामंतवादी जीवन मूल्यों से वह मुक्त नहीं हो सका है।''**[4] यहाँ का जातिगत सांस्कृतिक पक्ष आज भी अपनी सांस्कृतिक धरोहर बचाये हुए है, पर कब तक? उत्सवों के अवसर पर होने वाले नृत्य, गीतों, स्वांग की जगह अब डी.जे. लेते जा रहे हैं। बुन्देली लोक नृत्य, गीत, ग्रामीण अंचल में गरीब तबके की आर्थिक मजबूरी बनकर रह गये है। शिक्षित और सम्पन्न होती जातियाँ बुन्देली जातिगत नृत्य संगीत को हेय समझकर त्याग रही हैं। बुन्देली संस्कृति से बुन्देलखण्ड के शिक्षित समाज की लगातार बढ़ती दूरी से बुन्देली संस्कृति के अस्तित्व का संकट दिखायी देने लगा है। संचार क्रांति के जन संचार माध्यमों द्वारा उपलब्ध सेटेलाइट मनोरंजन, आवागमन के साधनों का विकास और स्कूली और उच्च शिक्षा में बुन्देली भाषा संस्कृति के अभाव ने बुन्देली संस्कृति को अंधेरे में छोड़ दिया है। प्राकृतिक और ऐतिहासिक पर्यटन की विश्व स्तरीय धरोहरों के बावजूद बुन्देली संस्कृति की कोई वैश्वविक पहचान नहीं बन पाई है। दो राज्यों में बुन्देलखण्ड का विभाजन उपेक्षित होकर रह गया हैं।

आज बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक विरासत पर विलुप्त हो जाने का संकट गहराता दिखायी दे रहा है। यहाँ के घर बदल रहे हैं और घरों की चीजें भी। आज अरघनी, सींका, मथानी, टोन्ना, पगइया, पोर, देहरी, जुआँ, जुआंरी, धुरा, चिरइया, फार, अकुइया, मुठिया, हरीस, जोत, कूँड, हरइया,

बरओ, खड़वा, अरा, अरई, परेना, मेड़ मियारी, बड़ेरो, कुरइयां, छानी, दिरोंदा, गइ, खाड़ी, खपरा, मुसीका, दाँय, बगर, बखरी, मेंड़ो, हड़िया, घेला, केलो, तइया, थेंतो, गार, गिडँड़ो, खोरें, नरवा, ढियांड़, मोंजो, बखर, पॉस, रॉसा, किना, घोरा, खूँटा, खुटिया, पंच, फॉस, दुबच, मड़वा, ढबुआ, गुरा, गड़वांत, टटा, टटिया, कोंडा, अधिपांई, झुलीपरें, भुकाभुकें, लौलइयाँ, दुपरे, विश्वायी, छेंको, पटकुल्ला, बाड़ी, डयोड़ि, चौरी, पेलि, रास, जूना, डबिया, गाँज, पूरा, करया, मड़इया, गुथना, भौन, थान, बुन्देली संस्कृति के घोतक यह शब्द अपना अर्थ और पहचान खोते जा रहे हैं। अतः बुन्देली संस्कृति अपने प्राचीन वैभव से इक्कीसवीं सदी के द्वार पर आज अपनी पहचान और संरक्षण की मोहताज है। इस संदर्भ में डॉ. दुर्गेश दीक्षित द्वारा व्यक्त मत उल्लेखनीय है **''बुन्देली संस्कृति के कुछ विशिष्ट कार्यकलाप ऐसे है जिनकी झांकी केवल देहातों में ही दिखाई देती है जैसे-चढ़ावा, सतिया धराना, कुंआ पूजन, बारकड़ो गुरभतू, चौक, काजर लगाई आदि। इन अवसरों पर गाये जाने वाले लोक गीतों की ध्वनियाँ अलग-अलग हैं।''**[5]

इतिहास और पुरातत्व –

बुन्देलखण्ड पुरातत्व और इतिहास की दृष्टि से भी भारत में अपनी महत्वपूर्ण पहचान रखने वाला भौगोलिक क्षेत्र माना जाता है। **सागर, दमोह, छतरपुर जिलों में आदि मानव के बनाये शैल चित्रों और उनके औजारों से विश्व स्तर पर मानव सभ्यता के विकास की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने में मदद की है।** औषधी वृक्षों और कीमती वनों उपज भी यहाँ की महत्वपूर्ण है। पन्ना और छतरपुर के बड़ा मलहरा क्षेत्र में हीरे के भण्डार भी इस क्षेत्र को अलग पहचान देते है। अनेक महाभारत कालीन धरोहरों में वनखण्डेश्वर महादेव (अब पीताम्बरा शक्ति पीठ) भीमकुण्ड, अर्जुन कुण्ड आदि प्रमुख है। ऐरण, कालिंजर अजेयगढ़, धुबेला, रायसेन, दतिया, बड़ौनी, सियोड़ा, गढ़कुड़ार, रायगढ़, जतारा, बल्देवगढ़, टीकमगढ़, दिगौड़ा, बड़ा लिधौरा, धामौनी, सागर, बिजावर, माचीगढ़, मोहनगढ़, झाँसी, जालौन, महोबा, चरखारी, छतरपुर, औरछा के अभेद दुर्ग और उनका स्थापत्य बुन्देलखण्ड की पहचान बने हुए हैं। खजुराहों के अलावा सम्पूर्ण क्षेत्र पर्यटन की दृष्टि से आज भी उपेक्षित है जिससे यहाँ की भव्य ऐतिहासिक इमारतें खण्डहर हो चली हैं। आज बुन्देलखण्ड में एरण और दतिया में स्थित अशोक के शिलालेख भी घूमिल हो चले हैं। नैनागिर, अहारजी, पपौरा के गुप्त कालीन जैन मंदिर अपने अंनूठे स्थापत्य को लिए यहाँ मौजूद हैं। चित्रकूट जैसे तीर्थ भी यहाँ की संस्कृति और इतिहास की कहानी कहते हैं। मध्यकालीन सूफी संतों की अनेक दरगाहें बुन्देलखण्ड की गंगा-जमना तहजीब की आज भी मिसाल बनी हुई है इनमें सागर में ह. दाऊद मक्की, धामौनी में इसहाक वली शामी (बालजती शाह) ह. मस्तान शाह, ललितपुर में ह. सदनशाह औलिया, जतारा में ह. ख्वाजा रूकनुद्दीन समरकंदी, चंदेरी में. ह. मेहमान साहब के आस्तानों पर शालाना उर्स के मेले लगते हैं। बुन्देलखण्ड की यह ऐतिहासिक विरासत सदियों पुरानी है।

जो आज भी अपनी वैश्विक पहचान नहीं बना पायी है। चंदेल कालीन हजारों तालाब बुन्देलखण्ड की जनता के जल स्रोत है पर इनके रख-रखाव का इंतजार है। चंदेरा टीकमगढ़ और महाराजपुर छतरपुर महोबा (उ.प्र.) का देशी पान विश्व का सर्वश्रेष्ठ पान माना जाता है पर यहाँ की पान की खेती को पहचान मिलना अभी बाकी है। साहित्य की दृष्टि से भी बुन्देलखण्ड के महत्त्व की पुष्टि इतिहास में दर्ज है, **''भक्ति साहित्य की कर्मस्थली यदि ब्रज को माना जाता है तो रीतिकालीन साहित्य की कर्मस्थली बुन्देलखण्ड ही है।''**[6]

निष्कर्षतः

बुन्देलखण्ड की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक विरासत पर आज लुप्त होने का संकट बढ़ गया है। उ.प्र. और म.प्र. में विभक्त बुन्देलखण्ड की वास्तविक पहचान का संकट गहरा होता जा रहा है। शिक्षित वर्ग और राज्य की उपेक्षा इस क्षेत्र में साफ दिखती है। यहाँ का इतिहास साहित्य एवं ऐतिहासिक धरोहरों को अपने संरक्षण और पहचान का इंतजार है। बुन्देली भाषा साहित्य के रचनात्मक अवदान और औचित्य के पृथक मूल्यांकन की आवश्यकता है। बुन्देली के साहित्य में वर्णिक और मात्रिक छंदों के प्रयोग की समीक्षा होना अभी शेष है। संगीत में शास्त्रीय रागों और वर्णिक, मात्रिक छंदों के रचनात्मक व्यावहारिक उपयोग बुन्देली भाषा की समृद्धता को दर्शाते हैं।

अतः बुन्देली संस्कृति, साहित्य, लोक संगीत, लोक नृत्य के साथ बुन्देली की प्राचीन ऐतिहासिक धरोहर मानव के बनाये शैलचित्र इस क्षेत्र की संस्कृति को मानव उद्‌विकास से जोड़ते हैं। जिन्हें आज संरक्षण, विश्लेषण की दरकार है। बुन्देली भाषा संस्कृति की स्थिति ऐसी है कि इसे समाज छोड़ने के लिए अधीर है और राजनीति इसे अपनाती नहीं।

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

संदर्भ ग्रंथ–

1. ईसुरी अंक 15वां, 2006 संपा. राजमति दिवाकर, बुन्देली पीठ डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि. सागर, पेज नं. 110
2. डॉ. बलभद्र तिवारी, बुन्देली लोक काव्य भाग-3 (भूमिका) बुन्देली पीठ हिन्दी विभाग, वि.वि. सागर, प्रथम संस्करण 1976, पेज नं. 06
3. डॉ. बलभद्र तिवारी, बुन्देली समाज व संस्कृति, प्रमोद प्रकाशन जंगपुरा-ए नई दिल्ली, पेज नं. 257
4. वही, पेज नं. 71
5. ईसुरी अंक 15वां, 2006 संपा. राजमति दिवाकर, बुन्देली पीठ डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि. सागर, पेज नं. 62
6. डॉ. बलभद्र तिवारी, बुन्देली लोक काव्य परम्परा (भूमिका) बुन्देली पीठ हिन्दी विभाग वि.वि. सागर, प्रथम संस्करण 1993, पेज नं. 01

नर्मदा के घाट पर प्रार्थना

—आनंद कुमार सिंह

एक प्रार्थना से अपनी बात शुरू करना चाहता हूँ। इसे आपने भी अवश्य सुना होगा। यह मंत्र इस प्रकार है—

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिंधु कावेरी जले अस्मिन् सन्निधिं कुरू।।

भावार्थ यह है कि गंगा और यमुना, गोदावरी और सरस्वती, तथा नर्मदा, सिंधु और कावेरी के जल में हमें सन्निधि प्राप्त हो अर्थात् इन सातों नदियों के पुण्य जल में हम स्नान करें।

इन सातों नदियों का प्रवाह ही नर्मदा समग्र है क्योंकि ये अखंड हैं। अतः नर्मदा के घाट पर आयोजित इस अन्तरराष्ट्रीय महोत्सव ''नर्मदा समग्र'' में आकर माँ नर्मदा का सौन्दर्य और उसकी महिमा—दोनों ही मन में बरसाती बादलों की भाँति घिरने लगते हैं। दोनों ही लुभाते हैं, मन को किसी दूसरे ही लोक में खींचने लगते हैं। वह लोक कवियों का है, ऋषियों का है और साधकों का है। इस देश की महान संस्कृति के प्राचीन लोक में मन अपने आप पीछे लौटने लगता है। वह पुराना लोक-संसार, किन्तु अभी भी अपनत्व से सराबोर, अपने भीतर किसी अनाम वानस्पतिक सुगंध को धारण किये है। उसकी मायावी कुहेलिका में अनेक गिरिप्रान्तर हैं, अनेक नदियाँ हैं और उनके साथ-साथ चलने वाले अनेक ऐतिहासिक काल हैं। इन ऐतिहासिक कालों को हमने बहुतेरी इतिहास पुस्तकों में पढ़ा होगा, किन्तु, उसके भी बहुत पहले से हमारी संस्कृति स्रोतस्विनी रही है। उसी स्रोतस्विनी संस्कृति की कथा पुराणों में बिखरी पड़ी है। यही कथा अनेक लोक-आख्यानों में, लोकगीतों में, उपाख्यानों में, निजन्धरी गुफाओं में, नदी-तट पर बसने वाली सभ्यताओं में और सहवर्तिनी अनेक जातियों-प्रजातियों के सम्मिलन में अभी तक सुनाई देती है।

वेद, उपनिषद, ब्राह्मण और पुराण ग्रंथों में, मंत्रों-शास्त्रों, आगम-अभिचारों, स्तुतियों और प्रार्थनाओं में, चढ़ावों और मनौतियों में, मेलों-ठेलों में, आरती और भजनों में वह हमारी आस्था का बीजमंत्र बनकर वही हमारी जातीय स्मृति का हिस्सा कुछ इस तरह बन चुकी है कि उसे हमसे अलग करके नहीं देखा जा सकता। मन उसी पुराने लोक का शरणार्थी बन जाता है जहाँ यह मंत्र अभी भी सुनाई देता है—

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिंधु कावेरी जले अस्मिन् सन्निधिं कुरू।।

यह मंत्र कई हजार वर्षों से करोड़ों भारतीयों का स्नान-मंत्र रहा है और आज भी अनेक लोग इस मंत्र को दोहराते हुए उसी स्रोतस्विनी संस्कृति प्रवाह में स्नान करते हैं। गंगा, युमना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु और कावेरी– इन सातों नदियों के जल में हम भारतवासी स्नान करते हैं। क्या यह स्मरण केवल नदियों का ही स्मरण मात्र है? नहीं, यह उस देश की भौगोलिक चेतना का भी स्मरण है जो सारे भारतवासियों को मिलाकर एक करता है। हम उसी जल में नहाते रहे हैं जहाँ गंगा और कावेरी के जल में कोई भेद नहीं किया गया है। हमारे प्रत्येक धार्मिक कृत्य में सातों नदियों के जल को मिलाने की परम्परा रही है। घटस्थापना हो या राज्याभिषेक या कोई अन्य मांगलिक कारण इन सभी अवसरों पर सातों नदियों और तीर्थों के जल को प्रयोग में लाया जाता है अथवा मानसिक स्मरण किया जाता है। यह हमारी परम्परा है।

चेतना के इसी फैलाव के कारण प्रत्येक भारतीय में सांस्कृतिक एकत्व की धारणा शताब्दियों से बद्धमूल रही है। तब अनेकता में एकता का नारा नहीं लगाना पड़ता था। केवल दैनन्दिन जीवन में मानसिक ध्यान ही पर्याप्त था। स्मरण रखना होगा कि नदियों का सांस्कृतिक प्रवाह भाषायी प्रवाह से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। तभी तो इन नदियों का स्मरण कर स्नान करते हुए भारतवासी भाषायी अलगाव की बात नहीं सोचता था। ज़रा याद करें आज के भारत को जहाँ एक अहंकारी भाषा-भाषी अपनी भौगोलिक अस्मिता के नवनिर्माण में अपने ही देश की किसी दूसरी भाषा के भूगोल को पहचानता तक नहीं। वह उसे अपना नहीं सकता।

किन्तु, नदियों का निर्माण अहंकार की भाषा में नहीं हुआ है। वे किन्हीं महर्षियों और राजर्षियों के तपोबल से उतरी हैं। उनमें बहता हुआ जल किसी ऋषि का श्रम-सीकर है, किसी महान चेतना का करुणा-जल है। किसी के भगीरथ प्रयत्नों से गंगा का अवतरण हुआ है। किन्हीं मेकल कामनाओं से नर्मदा आई है। ये उच्चतम चेतना की करुणामयी दिव्य तरंगें हैं जो भूतल के पीड़ित प्राणियों की पीड़ा हरने आई हैं। ये भगवान शिव की जटाओं से निकली हुई उर्मि-मालाएं हैं जो मर्त्यलोक की प्यास दूर करने आई हैं। ये साधारण जलप्रवाह और नहरें नहीं हैं। ये मकरासना सौन्दर्यमूर्तियाँ हैं, शिवकन्याएं हैं जो अपनी सूक्ष्मतम अवस्थाओं में अमर देवियां हैं। जल बनकर जो बह निकली हैं वहीं तो उनकी करुणा है। इसीलिए वे माताएँ हैं। गंगा मइया हैं, नर्मदा भी मइया हैं। उनका अवतरण लोकमंगल के लिए हुआ है। मानव आत्मा को कृषि-संस्कृति से ऋषि-संस्कृति तक विकसित करने वाली ये दिव्यतम चेतनाएँ हैं जिनकी हम स्तुति करते हैं। उनके पद-पंकज की रज हमारे समस्त पापों को दूर करने वाली है। तभी तो आदि शंकराचार्य ने कहा – त्वदीय पादपंकजं नमामि देवि नर्मदे!

नर्मदा मात्र एक नदी नहीं है। वह एक समग्र अनुभव है। भारतीय संस्कृति के सभी नदी आख्यानों में इसका जुड़ाव भगवान शंकर से सिद्ध होता है। भारतीय प्रायद्वीप पर हजारों वर्षों की शैव परम्परा का प्रवाह नर्मदा के दिव्य प्रवाह में आज भी विद्यमान है। इसका भौगोलिक विस्तार

तो सभी को ज्ञात है कि महादेव पहाड़ियों में अमरकंटक के शिखर से निकलकर प्रारंभिक 300 किमी तक यह मंडला में सतपुड़ा क्षेत्र से होकर गुजरती है फिर जबलपुर के पास संगमरमर की चट्टानों से विन्ध्य और सतपुड़ा के बीच नर्मदा घाटी में प्रवेश करती है। भारतीय उपमहाद्वीप को उत्तरापथ और दक्षिणापथ के सांस्कृतिक रूप में बाँटने वाली यह नदी गुजरात के भरुच जिले में लगभग 1400 किमी की यात्रा कर खंभात की खाड़ी में अरबसागर में मिलती है। इसके तट पर द्वादश ज्योतिर्लिंगों में प्रसिद्ध ओंकारेश्वर महान तीर्थ है जो न केवल शैव परम्परा का प्रसिद्ध केन्द्र है बल्कि आदि शंकराचार्य की दीक्षा भूमि भी है। यहीं पर श्रीविद्या के परम उपासक आचार्य गौड़पाद के शिष्य आचार्य गोविन्दपाद से शंकर ने दीक्षा ग्रहण की थी। कहते हैं कि नर्मदा के इसी तट पर किसी शिला पर सौंदर्यलहरी के प्रारंभिक 41 पद प्राप्त हुए थे जिसे आचार्य ने पूरा किया था। माँ नर्मदा के पवित्र जल में प्राप्त होने वाले शिवलिंग जिन्हें बाणलिंग भी कहते हैं उन्हें शिवोपासना का प्रधान प्रतीक माना जाता है। प्रतिवर्ष हजारों तीर्थयात्रियों द्वारा माँ नर्मदा की परिक्रमा की जाती है जो निश्चय ही अत्यंत प्राचीन परम्परा है। रेवा, मेकलसुता, महार्णवा, सोमोद्भवा, कन्यातीर्था आदि इसके अन्य नाम हैं। इसके उद्भव की भी अनेक कथाएँ हैं जो बहुत प्रचलित हैं। उनमें से ही एक स्कन्दपुराण में रेवाखंड के अन्तर्गत चतुर्थ अध्याय में कहा गया है कि भगवान शंकर के कठोर तप से उनके शरीर से उत्पन्न श्रमविन्दुओं से पुण्यशालिनी नर्मदा का प्रादुर्भाव हुआ। एक कथा यह भी है कि चंद्रवंशी राजा पुरूरवा ने संतों के कहने पर पापों से मुक्ति के लिए भगवान शंकर की कठोर साधना की जिससे प्रसन्न होकर भगवान शंकर ने पुरूरवा के माँगने पर देवी नर्मदा को भूतल पर अवतरित होने का आदेश दिया। वायुपुराण, शिवपुराण, महाभारत, वासिष्ठ संहिता और ब्राह्मी संहिता आदि अनेक ग्रंथों में नर्मदा की महिमा गाई गई है। तथापि सोमकला से उत्पत्ति की कथा ही अधिक प्रचलित है। जिस समय भगवान शंकर अन्धकासुर का वध करके शांत मुद्रा में मेकल पर्वत पर समासीन थे उस समय अन्य देवताओं सहित भगवान विष्णु ने उनकी बड़ी स्तुति की। उसी समय कामोपभोग से आतुर, पापकर्म में प्रवृत्त और हिंसाजन्य दोषों से युक्त देवताओं ने भगवान विष्णु से पापों से मुक्ति का उपाय पूछा। देवताओं की प्रार्थना सुनकर भगवान शिव की करुणा से उनके मस्तक से निकलकर गिरने वाला सोमविन्दु ही पृथ्वी का स्पर्श प्राप्त कर एक अत्यंत सुन्दरी कन्या के रूप में परिणत हो गया—

नीलोत्पलदलश्यामा सर्वावयवसुन्दरी।
सुद्विजा सुमुखी बाला सर्वाभरण भूषिता।।

नील कमलदल के समान श्यामवर्ण वाली, सम्पूर्ण अवयवों से सुन्दर, मनोहर दंतपंक्ति से युक्त सुन्दरमुखवाली बालिका समस्त अलंकारों से युक्त थी। उसे देखकर सभी देवताओं ने स्तुति करते हुए कहा—

यतो ददासि नो नर्म चक्षुषां त्वं विपश्यताम्।
ततो भविष्यते देवि विख्याता भूवि नर्मदा।।

"हे देवि! दर्शन करने वाले हम सभी को तुम सुख दे रही हो अतः तुम भूतल पर नर्मदा नाम से प्रसिद्ध होओगी।"

अतः माघशुक्ल सप्तमी को अश्विन नक्षत्र में रविवार को मकर राशिगत सूर्य के रहते मध्याह्न काल में श्री नर्मदा जी भूतल पर अवतरित हुई।[1]

इस सम्पूर्ण वर्णन को ध्यान से पढ़ने पर समझ में आता है कि इस देश का अपनी नदियों से कैसा संबंध है जब हम अपना नहीं बल्कि नदियों की जयंतियां मनाते हैं। अमरकंटक से रेवासागर संगमन तक असंख्य तीर्थ पुराणों में भरे पड़े हैं। त्रिदेवों से लेकर वशिष्ठ-गौतम-मार्कण्डेय और शौनक आदि ऋषियों ने, वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि कवियों ने आचार्य शंकर प्रभृति महान आचार्यों ने इसी भूगोल में तप किया। मानों एक अमूर्त भारत नर्मदा के प्रवाह में कंकर बनकर शताब्दियों से शिवाराधन में तपनिरत है। अनगिनत महर्षियों और राजर्षियों ने सर्वदुखभंजिनी मा नर्मदा का सतत सेवन किया और आत्मोपलब्धि की। वह महान परम्परा कालक्रम में मुरक्षा जरूर गई है किन्तु पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। वह परम्परा निरन्तर सृजनशील रही है। वह आत्मदैन्य से पीड़ित वर्तमान भारत की दिशाहारा परम्परा नहीं है जिसमें न सृजन है और न तप। वह अपने को मिटाकर पाने वाली निरन्तर सृजनधर्मा परम्परा है। जिसके विशाल प्रवाह के हम भारतवासी अविभाज्य अंग हैं। वह खंड-खंड करने वाली वर्तमान परम्परा नहीं है बल्कि खंड-खंड को जोड़कर चलने वाली अखंड और समग्र परम्परा है। ऐसी नर्मदा के लिए ही आदि शंकराचार्य ने कहा था—

अहोऽमृतम् स्वनं श्रुतं महेशकेशजातटे।
किरातसूत वाडवेषु पंडिते शठे नटे।
दुरन्तपापतापहारि सर्वजन्तु शर्मदे।
त्वदीय पाद पंकजं नमामि देवि नर्मदे।।

नमामि देवि नर्मदे—यही मंत्र होशंगाबाद में सेठानी घाट पर नित्य संध्या को गाया जाता है। रोज संध्या को होने वाली इस विलक्षण आरती में हम सभी अंगन्यास करते हैं। दिव्य चेतना वाली इसी सूक्ष्म शिवकन्या को हम अपने अंग-प्रत्यंग में समाहित करते हैं उसका चैतन्यस्पर्श करते हैं। आरती करते हैं, प्रसाद बाँटते हैं और संतुष्ट होकर घर लौटते हैं। भोजन करते हैं और माँ नर्मदा की महान कृपा का स्मरण करते हुए सो जाते हैं। फिर सुबह को उसी नदी में हम अपनी भयानक गंदगी भी बिना किसी हिचक के डालते हैं, कचरा फैलाते हैं, अधजले शव भी फेंकते हैं, पालीथिन सहित सड़े फूल भी डालते हैं। अर्थात् एक अत्यंत उपयोगी नदी को रोज मारते हैं फिर शोकगीत भी गाते हैं। यही तो क्रम है। वर्षों से चला आने वाला क्रम। हर घाट पर। लगभग हर पवित्र नदी के साथ हम यही कर रहे हैं। एक यान्त्रिक कर्म। जिसकी हम पूजा करते हैं उसी के साथ दुर्व्यवहार भी हमारे नित्य कर्म में जुड़ा है। जिस देवता की आराधना करते हैं उसी की उपेक्षा

भी। मानों इन दोनों में कोई विरोधाभास हमें समझ में नहीं आता। हम जानते हैं कि ऋषिकेश में, हरिद्वार में, बनारस में गंगा जी की आरती नित्य संध्या को इसी प्रकार होती है। किन्तु गंगा जी नित्य ही नष्ट हो रही हैं। यमुनोत्री में यमुना जी की भी इसी प्रकार आरती होती है किन्तु यमुना जी भारत की राजधानी में ही एक चौड़ा गंदा नाला हैं। यह भारत की संसद के पास ही है। दुनिया के महान आश्चर्यों में से एक जहाँ ताजमहल है उस आगरा तक आते-आते यमुना जी में कीचड़ के सिवा कुछ नहीं हैं। आपने सुना होगा सन् 2004 में भारत की सात मोक्षदायिनी पुरियों में से एक अवन्तिका अर्थात् उज्जैन में पवित्र क्षिप्रा में नहाने के लिए जल नहीं था। वहां पर सूखी हुई क्षिप्रा में ट्यूबवेल लगाकर जल की किसी तरह व्यवस्था की गई। पिछले वर्ष तीर्थराज प्रयाग में कुंभ मेले में स्नान के लिए स्नानार्थियों ने गंगा जी में जल छोड़ने के लिए आन्दोलन किया। नासिक में गोदावरी का भी वही हाल है। सरस्वती नदी तो पहले ही सूख चुकी है। सिंधु और कावेरी की दशा भी दयनीय है। एकमात्र यही नर्मदा है जिसमें जल है। रिपोर्ट कहती है कि किसी भी नदी का जल पीने लायक नहीं बचा है। कुछ वर्षों के बाद नर्मदा जी की हालत भी वही हो जायेगी— इसमें संशय नहीं है। हम इसे रोज मरते हुए देखेंगे। हम रोज विचार भी करेंगे किन्तु हम इसे बचा नहीं पायेंगे। क्यों? क्योंकि हमारे आरती करने से नदी नहीं बचेगी। वह तो तब बचेगी जब हम उसके पर्यावरण को बचा सकेंगे। क्योंकि नदी मात्र उतनी ही नहीं है कि जितनी दिखती है। वह तो एक पर्यावरणीय समग्र अपवाह तन्त्र है जिसके दोनों तटों का भूगोल अपने समस्त वानस्पतिक वैभव के सहवर्तन में साँस लेता है। नदियाँ जहाँ से निकलती दिखती हैं वह भी वस्तुतः उनकी जन्मभूमि नहीं होती। वह तो किन्हीं अत्यन्त गहरे स्रोतों से निकलती हैं जिसे हमारे देश की मनीषा ने शिव की जटाएँ कहा है। उसे एक देश में नहीं बाँटा जा सकता। उदाहरण के लिए गंगा, यमुना और ब्रह्मपुत्र के समस्त हिमनद तिब्बत या चीन में हैं। हिमालय की तराई के सारे जंगल रोज काटे जा रहे हैं। नेपाल जैसे निर्धन देश ने अपने जंगलों को चीन को बेच दिया है जिससे तराई क्षेत्र के जंगल समाप्तप्राय हैं। फलस्वरूप हिन्दुस्तान में बहने वाली नदियों में मिट्टी के अपरदन से गाद भर गई है। उनकी अपवाह क्षमता कम होने से प्रतिवर्ष बिहार, बंगाल और बांग्लादेश में भीषण बाढ़ें आती हैं। अकेले बांग्लादेश में लगभग 15 लाख से अधिक लोग प्रतिवर्ष प्रभावित होते हैं। नर्मदा में अभी प्रदूषण कम है। इसका प्रमुख कारण यह भी है कि इसके किनारे महानगर नहीं हैं, बड़ी फैक्टरियाँ नहीं हैं। किन्तु, इसके अपवाह तन्त्र की निरन्तर हानि पहुँचने से इसके जलभंडार में और जलीय पर्यावरण में निरन्तर कमी हो रही है। वनों की अंधाधुंध कटाई से और आधुनिक जीवनशैली के कारण कृषि पर पड़ने वाले दबावों के कारण नदी के चतुर्दिक जैव विविधता का लोप हो रहा है। क्या हमारा समाज अपनी जीवनदृष्टि में बदलाव के लिए तैयार हो पायेगा— यह एक छोटा किन्तु बड़ा सवाल है। हमें यह समझना होगा कि नदियां एक विशेष सांस्कृतिक मनोभूमि में जीवित रहती हैं जो अब यहाँ नहीं है। वह

जीवनदृष्टि उसी पुराने लोक वाली है जिसमें मन बारम्बार भागकर पहुँचना चाहता है। उस जीवनदृष्टि की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। बिना उस जीवनदृष्टि के पुनरुद्धार के हम नदियों को नहीं बचा पायेंगे।

2

आइये, इसपर थोड़ी चर्चा करें कि हमारी परम्परागत जीवनदृष्टि में ऐसा आत्महन्ता परिवर्तन क्यों हुआ और क्या कोई मार्ग अभी बचा है जिस पर चलकर हम न केवल इन नदियों को बल्कि पूरी पृथ्वी को बचा पायेंगे?

जिन नदियों की संध्या वन्दना की बात पहले की गई है वह तो शताब्दियों से चल रही थी और नदियों का पर्यावरण पिछले सौ वर्षों तक सुरक्षित था। कहीं कोई समस्या नहीं थी। अर्थात् इस समस्या का जन्म केवल पिछले सौ-पचास वर्षों में ही हुआ है। हम कह सकते हैं कि लगभग अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी की संधि पर आधुनिक भारत का निर्माण प्रारंभ हुआ। एक विदेशी सत्ता के अधीन होकर ही हम भारतवासियों में राष्ट्रीय चेतना का बोध प्रारंभ हुआ। यह राष्ट्रीय चेतना जिसे हम 'पोलिटिकल नेशनल कांशसनेस' कह सकते हैं सन् 1857 में अपना सुदृढ़ आकार पाने लगी थी जिसके बारे में आप सभी जानते हैं। समग्र भारतीय चेतना एक प्रकार से जागने लगी और अंग्रेजों के खिलाफ हर जगह उठ खड़ी हुई। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध को जिसमें यह राजनीतिक चेतना जगनी प्रारंभ हुई –इतिहासकारों ने उसे पुनर्जागरण काल कहा है। किन्तु इसी काल में वह संदेह का दौर भी शुरू हुआ जब अंग्रेजी शिक्षा से ओत-प्रोत भारतीय नवशिक्षितों ने परम्परागत मूल्यों पर प्रश्नचिह्न भी उठाये और आधुनिक चिन्तन की नींव भी डाली। कांग्रेस के जन्म के आसपास भारतीय समाज में कई प्रकार के समाजों का उदय हुआ था जैसे– आर्यसमाज, सत्यशोधक समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि। उस समय के साहित्यिक लेखन में सामाजिक मूल्यों को लेकर अनेक वाद-विवादों की गूँज सुनाई देती है किन्तु कहीं भी पर्यावरण पर संकट का आभास नहीं मिलता। तब तक आम जनता में नदियां उतनी ही पूज्य थीं, वृक्षों की उपासना और प्रकृति की पूजा यथावत प्रचलित थी। प्रकृति से छेड़छाड़ हो रही थी किन्तु विकास का पलड़ा भारी था। तब प्रकृति पर विजय ही विज्ञान की सबसे बड़ी विजय थी। यह पश्चिमी जीवनदर्शन का आधुनिकताबोध था जिसका प्रभाव हमारे देश के नवशिक्षित वर्ग पर भी गहराई से पड़ा। वस्तुतः पश्चिमी आधुनिकतावादी चिन्तन को ही हमने राजनीतिक रूप से भी ग्रहण किया। स्वतंत्रता, नवीन राष्ट्र राज्य, लोकतंत्र, मतदान प्रणाली, शिक्षा प्रणाली, शासन व्यवस्था, न्याय प्रणाली, चिकित्सा प्रणाली और जीवनशैली आदि पश्चिम से ग्रहण किये गए। उसे पारंपरिक ज्ञान की तुलना में आधुनिक और विश्वसनीय भी माना गया। देश की अखंड सांस्कृतिक विविधता को अनेकता में एकता, ग्राम संस्कृति को गँवार, अंधाधुंध औद्योगीकरण को विकास, धार्मिकता को पतनशीलता, आचरण की शुचिता को सामाजिक न मानकर उसे व्यक्तिगत विशेषता के रूप में देखने की प्रवृत्ति बढ़ी।

राजनीतिक चेतना के स्वार्थपूर्ण विकास के कारण व्यक्तिवाद, मतवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद, संप्रदायवाद आदि की प्रवृत्तियाँ भी निरन्तर बढ़ती ही चली गयीं। वैश्विक भोगवाद के दबाव में हमने भी उसे लगातार स्वीकार किया जो निरंकुश और अनर्थकारी होता चला गया है। देशी मूल्य, लोक-संस्कृति और पारंपरिक प्रवाहों के उच्छिन्न होते चले जाने से हम लगभग अपनी जड़ों से कटते चले गए हैं।

हमारे देश में मैकाले की नीतियों पर चलने वाली शिक्षा प्रणाली ने इसमें अधिक योगदान किया है। आजादी के बाद भी हमारे शिक्षणालयों ने अंग्रेजों द्वारा बनाई गई व्यवस्था का ही पोषण किया है। इसी कारण हमने अपनी भाषा और संस्कृति को तथा जीवनमूल्यों को लगातार उपेक्षित किया है। यहाँ कहने का आशय यह नहीं है कि पश्चिम से लिया गया सब कुछ बेकार है किन्तु उसे भारतीय दृष्टि के साथ मिलाकर देखने-अपनाने की बात जो होनी चाहिए थी उसके सिरे से अभाव के कारण हम रोज़ पतनोन्मुख हुए हैं। यह बात भी ध्यान में रखने की है कि पश्चिम का ज्ञानोदय भी लगभग हमारे स्वतंत्रता संग्राम (1857) तथा पुनर्जागरण के थोड़ा पहले ही हुआ है। अट्ठारहवीं शताब्दी (1760 से 1820 और 1840) में ब्रिटेन में औद्योगीकरण के कारण वहाँ विज्ञान की दृष्टि तेजी से विकसित हुई जिससे यूरोप ने प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति की किन्तु पश्चिम के पास कोई सुदीर्घ परम्परा नहीं रही है इसलिए उसके जीवन दर्शन में आक्रामकता और ऐतिहासिक क्षणों का विशेष महत्व है। वहाँ विज्ञान के बढ़ते वर्चस्व का चर्च द्वारा जबरदस्त विरोध हुआ। ईसाइयत ने जो जीवनमूल्य धार्मिक रूप से निश्चित कर दिए थे उससे विज्ञान के विकास के कारण जनता ने राहत की सांस ली थी। इसीलिए पश्चिम ने 'अथॉरिटी' का क्रमशः विरोध किया। हालांकि इस वैज्ञानिक विकासवाद की चपेट में यूरोप ने अपना पर्यावरण संतुलन बिगाड़ डाला किन्तु धीरे-धीरे वे सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इसी का परिणाम है *ग्रीन पॉलिटिक्स* जिसमें विश्व भर के बुद्धिजीवी शामिल हैं। उन्होंने ज्ञानोदय के युग में विकसित जीवनदृष्टि को संशय की दृष्टि से देखना प्रारंभ किया और वहाँ पर Systems view of life की बात की जाने लगी है। बीसवीं शताब्दी के अंत में पश्चिम ने इसे तर्कसंगत ढंग से समझ लिया है कि पर्यावरण का प्रश्न ही आज का सबसे गंभीर प्रश्न है। न केवल पृथ्वी की जैव प्रजातियों के लिए ही बल्कि स्वयं पृथ्वी के लिए भी अस्तित्व का संकट उपस्थित हो गया है। वाशिंगटन की वर्ल्ड वाच हाउस संस्था ने State of the world नाम्नी वार्षिक प्रतिवेदनों में जैव मंडल पर छाये हुए संकटों को गंभीरता से प्रस्तुत किया है। यह बात अब लगभग स्वीकार की जा चुकी है कि जीवनदृष्टि में बदलाव के बिना पर्यावरण संकट से मुक्ति नहीं पाई जा सकती। Crisis of perception की जो बात पश्चिम के लिए की जा रही है वही बात हमारे लिए भी महत्वपूर्ण है। जीवनदृष्टि का संकट ही सबसे बड़ा संकट है। हमारी सभी सामाजिक संस्थाओं में, शिक्षणालयों में, सरकारी संस्थाओं में एक अत्यन्त 'आउटडेटेड' जीवनदृष्टि पलती

है जिसमें 'रैडिकल' परिवर्तन की सख्त जरूरत है। देखें कि एक आधुनिक भौतिकवेत्ता डॉ फ्रिजफ काप्रा यहाँ क्या कहते हैं–

There are solutions to the major problems of our time; some of them even simple. But they require a radicle shift in our perceptions, our thinking, our values. And, indeed, we are now at the beginning of such a fundamental change of world view in science and society, a change of paradigms as radical as the Copernican Revolution. But this realization has not yet dawned on most of our political leaders. The recognition that a profound change of perception and thinking is needed if we are to survive has not yet reached most of our corporate leaders either, nor the administrators and professors of our large universities.[2]

यह लगभग मानी हुई बात है कि हमारे विश्व को आधुनिकता की ओर ले जाने में पश्चिम में हुई गवेषणाओं का निर्णायक महत्त्व है। विशेषकर भौतिकशास्त्र और दर्शनशास्त्र में हुए चिन्तन ने विश्वभर की चिन्तन प्रणाली को बदलने का प्रयत्न किया है। उदाहरणस्वरूप न्यूटन, देकार्त और यूक्लिड ने क्रमशः भौतिकशास्त्र, दर्शनशास्त्र और ज्यामिति के माध्यम से विश्व की संरचना को एक मशीन के रूप में समझाने की चेष्टा की है जहां विश्व एक विशाल यंत्र की भाँति है जिसमें कल-पुर्जों की भाँति ही चीजें व्यवस्थित हैं। यदि कोई पुर्जा कही पर खराब है तो उसे हटाकर उसकी जगह सही पुजाँ वापस लगाया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से सभी भौतिक वस्तुओं की प्रत्यक्षवादी (Positivistic) व्याख्या की जा सकती है और उन्हें विश्लेषणात्मक भाषा में प्रस्तुत भी किया जा सकता है किन्तु परमाणु भौतिकी के सूक्ष्मतम आयामों की ओर बढ़ते हुए अद्यतन भौतिकी ने क्रमशः यह स्वीकार कर लिया है कि नई पारमाणविक संरचनाओं की व्याख्या पुरानी तर्ज पर असंभव है। और केवल तीन आयामों वाली जीवनदृष्टि से दुनिया को नहीं देखा जा सकता। **वस्तुतः विश्व यंत्र नहीं है जिसके पुर्जो में आपसी संवेदना और संप्रेषण भी नहीं, बल्कि, वह जीवन्त घटनाओं का महातन्त्र है जिसके पीछे चेतना के अपरिमित और अज्ञात मन्त्र हैं जिनसे घटनाएँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म तौर पर नियंत्रित हो रही हैं।** अन्ततः पश्चिम ने यह मान लिया है कि काल जो वस्तुओं का चौथा आयाम है वस्तुतः कहीं न कहीं विराट चेतना का हिस्सा है और केवल यथार्थवाद के आधार पर हम जीवन जगत की परिभाषा नहीं गढ़ सकेंगे। फलतः पश्चिम ने वस्तुओं को एक विराट नेटवर्क का जीवन्त हिस्सा मानकर देखना प्रारंभ कर दिया है। चीजें अलग-अलग दिखती जरूर हैं लेकिन कहीं गहरे में वे सभी आपस में गहराई से जुड़ी हुई हैं। उन्हें अलग करके न देखा जा सकता है और न ही समझा जा सकता है। यह दृष्टि पुरानी दृष्टि से अलग है और माँग करती है कि पर्यावरण को वस्तुओं को सम्पूर्ण रूप में देखने के आयाम में सम्मिलित किया जाय। यह एक प्रकार से पूर्ण दृष्टि है जिसमें पर्यावरणीय आयाम अन्तर्भुक्त है। जैसे एक साइकिल के बारे में सम्पूर्ण दृष्टि से आशय होगा कि इसकी उपयोगिता, यान्त्रिक बनावट के साथ-साथ इसे निर्माण करने वाले कारकों के कच्चे माल का स्रोत, साइकिल के निर्माण में पर्यावरण पर

प्रभाव, इसे उपयोग करने वाले समुदाय पर प्रभाव आदि को लेकर एक ही साथ जो समेकित दृष्टि बनेगी वही सम्पूर्ण दृष्टि कहलायेगी।

अतः कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण दृष्टि में और पर्यावरणीय दृष्टि में अन्तर नहीं है। नार्वे के दार्शनिक अर्न नेस (Arne Naess) ने सत्तर के दशक में पर्यावरणीय बोध को छिछले पर्यावरण बोध (Shallow Ecology) और गहरे पर्यावरण बोध (Deep Ecology) के रूप में परिभाषित किया था।

1. जो पर्यावरण केवल मानव केन्द्रित है तथा जो प्रकृति की सभी घटनाओं के केन्द्र में केवल मनुष्य को ही रेखांकित करता है वह प्रकृति को अन्ततः उपभोग्य माल की तरह इस्तेमाल करता है। यह बोध छिछला पर्यावरण बोध है।
2. जबकि गहरा पर्यावरण बोध वह है जो पृथ्वी पर जीवन केन्द्रित है। यह प्रकृति को अन्तर्सम्बन्धित अवयव मानकर परस्पर निर्भरता को स्वीकारता है। यह वस्तुतः प्राचीन धार्मिक जीवनबोध के समान है जिसमें प्रकृति की आत्मा को चैतन्य माना जाता है।

यही कारण है कि जब भी हम Deep Ecology की बात करते हैं वह लगभग सनातन भारतीय परम्परागत चिन्तन के साथ ही सभी धर्मों की सहस्यवादी जीवनदृष्टि से मेल खाती है। गुह्य साधनापथों के आचार चाहे वह ईसाइयत के हों अथवा इस्लाम के, चाहे वह बौद्धों के हों अथवा जनजातीय कबीलाई समाजों के –उनमें अद्भुत एकता और साम्य है। **वह दृष्टि सामान्यतया प्रकृति की आत्मा में ईश्वरत्व को देखने वाली, विविधतामयी, मातृसत्तात्मक विवेक वाली और समर्पणशीला है। वह प्रकृति की मातृसृष्टि है जिसमें प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा के स्थान पर परस्पर सहयोग और सहजीवन, बुद्धि के स्थान पर आत्मविवेक या सद्बुद्धि, विश्लेषण के स्थान पर संश्लेषण, मात्रा के स्थान पर गुणवत्ता, रेखीय कालबोध के स्थान पर चक्राकार कालबोध, भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता है तथा शीघ्रता और संदेह के बदले धैर्य और श्रद्धा है। यही वह नई जीवनदृष्टि है जिसकी हमें अत्यन्त आवश्यकता है।** हमें अथर्ववेद के प्राचीन ऋषियों की भाषा में केवल भारतवर्ष के लिए नहीं बल्कि सम्पूर्ण पृथ्वी के लिए ही सोचना होगा –

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।।

अर्थात भूमि हमारी माँ है और हम पृथ्वी के पुत्र हैं।

Deep Ecology में भी आज पृथ्वी ही केन्द्र में है। यह एक नवीन किस्म की नैतिकता है जिसकी शुरूआत की जानी है। खासतौर से सरकारों और बहुराष्ट्रीय निगमों के संचालकों के माध्यम से शोधरत वैज्ञानिकों को इस नैतिकता की सख्त जरूरत है जो नए आणविक हथियार बनाकर परीक्षण कर रहे हैं, रसायनशास्त्री जो जीवन संहारक विषों का निर्माण कर रहे हैं जिनसे भूमंडल में तापमान बढ़ रहा है। उन जैव वैज्ञानिकों को इस नैतिकता की आवश्यकता है जो बिना परिणाम की चिन्ता किये सूक्ष्म जैविकों का निर्माण कर रहे हैं और वे मनोवैज्ञानिक जो वैज्ञानिक विकास

के नाम पर पशुओं पर भाँति-भाँति के प्रयोग कर अत्याचार कर रहे हैं। उन्हें इस दृष्टि की बहुत आवश्यकता है। अर्न नेस के वचनों को यहाँ उद्धृत करना चाहता हूँ—

Care flows naturally if the 'self' is widened and deepend so that protection of free nature is felt and conceived as protection of ourselves...Just as we need no morals to make us breathe...[so] if your 'self' in the wide sense embraces another being, you need no moral exortation to show care...You care for your self without feeling any moral pressure to do it...If reality is like it is experiencd by the ecological self, our behaviour naturally and beautifully follows norms of strict environmental ethics.[3]

यह ''आत्मवत सर्व भूतेषु यः पश्चति सः पंडितः।।'' की तरह का ही आधुनिक उद्घोष है जिसका प्रसार हमारी शिक्षण संस्थाओं से होना चाहिए। किन्तु हमारे शिक्षा संस्थानों एवं विश्वविद्यालयों में ऐसी जीवनदृष्टि का नितान्त अभाव है। नर्मदा को सौन्दर्य की नदी के रूप में देखने वाले लोग दुलर्भ हैं। इसी गहन पर्यावरण वाली जीवनदृष्टि में डूबकर ही श्री अमृतलाल वेगड़ ने अपने परिक्रमा लेखन और चित्रांकनों से माँ नर्मदा का साहचर्य निरूपण किया है। जब तक हमारी जीवनदृष्टि में गहन पर्यावरण बोध नहीं आयेगा हम नदियों को चाहकर भी बचा नहीं पायेंगे।

दर्शन मात्र से पवित्र करने वाली माँ नर्मदा और तवा के संगम पर आज का यह चिन्तन हमारे सामाजिक जीवन को गहरे पर्यावरण बोध से भर सके -ऐसी कामना करता हूँ और करोड़ो भारतीयों के साथ ही प्रार्थना करता हूँ कि सातों नदियों का जल हमारी चेतना की गहन मनोभूमियों का स्पर्श करे। उसके जल की सन्निधि हम सभी को प्राप्त हो! और अन्त में एक कविता से अपनी बात समाप्त करना चाहता हूँ।

नर्मदा इस देश में नहीं है
वह वहाँ है जहाँ उसकी जरूरत है
क्योंकि नर्मदा अपने शाश्वत देश में है।

हम कहीं नहीं हैं क्योंकि हम
अपने देश में नहीं हैं
जहाँ हमारी जरूरत है
नहीं हैं हम वहाँ पर भी नहीं हैं

न हम नभ में न पाताल में
न अरूणोदय में न कलरव में

न बसन्त में न पावस में
हम कहीं नहीं हैं

नर्मदा प्यास में तृप्ति में
जन्म में गर्भाशय में
एकान्त में संहार में
हर कहीं है

वह जल की अपार करूणा है
वह जल की करूणा पर चुपचाप चलती है
वह दुर्गम बीहड़ में कंकड़ को
रचती है सुडौल पार्थिव
वह सुन्दर है देखती हुई सौन्दर्य को
निरन्तर रचती हुई सौन्दर्य को
वह इसी देश में है

5, वर्धमान परिसर
चूना भट्टी, भोपाल (म.प्र.)-16

संदर्भ

1. नर्मदा कल्पवली, स्वामी ओंकारानन्द गिरि, ज्ञानसत्र प्रकाशन न्यास, 1998, होशंगाबाद।
2. Page 4, The Web of Life, 1997, London.
3. Arne Naess, Quoted in The Web of Life, Page 12.

विन्सेंट वान गॉग के दो पत्र भाई थियो के नाम

—राजुला शाह

आइलवर्थ, इंग्लैंड
6 अक्टूबर, 1876

प्रिय थियो,

एक और शनिवार आ गया है और मैं एक बार फिर तुम से मुखातिब हूँ। तुम से मिलने का बहुत मन हो रहा है। उफ! कभी-कभी इस इच्छा में कैसी तड़प होती है! कैसे हो तुम? जल्द ही मुझे लिखो।

इस बुधवार को हम लम्बी सैर पर गए थे—अगले गाँव तक। रास्ते में दोनों ओर खेत और चरागाह, झरबेरी और करौंदे की झाड़ियाँ और कभी-कभी एक बड़ा छतनार वृक्ष गुज़र जाता था। कितना अद्‌भुत था सब कुछ। फिर सूरज सलेटी बादलों के पीछे छिप गया और ज़मीन पर सब तरफ़ लम्बी-लम्बी छायाएँ पसर गईं। यूँ ही चलते-चलते हम श्री स्टोक के स्कूल जा पहुँचे। मेरी पहचान के कई लड़के अब भी वहाँ थे। सूरज के छिपने के बहुत बाद तक भी बादलों का गुलाबीपन बरकरार था! हालाँकि खेतों और मैदानों के ऊपर शाम का धुँधलका छा गया था और दूर-पास के गाँवों में मद्धिम बत्तियाँ टिमटिमाने लगी थीं।

मैं कल तुम्हें लिख ही रहा था कि श्री जोन्स के यहाँ से बुलावा आया। वे चाहते थे कि उनके कुछ रुपये लेने मैं लंदन तक जाऊँ। सो मुझे जाना पड़ा। जब लौटा तो क्या देखता हूँ—पिताजी का पत्र! उसमें तुम्हारे बारे में भी ख़बर है। काश, तुम सबके साथ मैं भी हो पाता। ख़ुदा का शुक्र है कि तुम्हारी तबीयत अब बेहतर है, हालाँकि कमज़ोरी तो अब भी होगी। ऐसे वक़्त तुम्हें माँ की बड़ी याद आती होगी, खैर अब तो जल्द वह तुम्हारे पास आ ही रही है! नहीं?

कौन्शियन्स ने कहीं लिखा है—"मैं अस्वस्थ था, मेरा दिमाग़ थका हुआ था, मेरी आत्मा विरक्त और देह पीड़ित थी। मैं, जिसे ईश्वर ने एक नैतिक ऊर्जा और अदम्य प्रेम से भरा था—वही मैं एक अतल नैराश्य की गर्त में गिर गया और मुझे लगा जैसे एक ज़हर बुझे तीर से मेरा हृदय आहत कर दिया गया हो। मैंने फिर तीन महीने मूर पर बिताए। जानते हो, वही अद्‌भुत स्थान जहाँ आत्मा अपने ही भीतर विश्राम करने चली जाती है, जहाँ पहुँचकर सब कुछ शान्त और स्निग्ध हो जाता है, वहाँ आत्मा ईश्वर की अविरल सृष्टि के सम्मुख अपने सारे आवरण उतार फेंकती है,

समाज को भूल जाती है और युवावस्था के नए जोश के चलते पुराने बंधनों को ढील देती है। तब वहाँ हर विचार एक प्रार्थना बन जाता है, और जो कुछ भी इस मुक्त और चिरंतन प्रकृति के साथ अपने तादात्म्य नहीं पाता, वो घुल जाता है। ओह! यहीं वह थकी हुई आत्मा शान्ति पाती है और यहीं से क्लांत, निष्प्राण मनुष्य अपनी ऊर्जा और शक्ति दोबारा प्राप्त कर लेता है। ऐसे बिताए मैंने अपने रोगी दिन...और फिर वे शामें। उस बड़े सारे अलाव के सामने गर्म राख के ऊपर पाँव लटकाकर बैठना, चिमनी के छेद से मुझ पर अपनी किरणें फेंकते उस इकलौते तारे को तकना जो मुझे अपनी ओर बुलाता-सा लगता था या किसी गहरे सोच में निमग्न अग्नि शिखाओं को लपकते-झपकते, बनते-बिगड़ते देखना, मानो ज्वाला की जीभों में पात्र को छू लेने की होड़ मची हो। और उसे देखते हुए सहसा जानना कि यही मानव जीवन का चक्र है—जन्म लेना, कर्म करना, प्रेम में डूबना, पनपना, बढ़ना और फिर अगले किसी क्षण सहसा लुप्त हो जाना।"

श्री जोन्स ने मुझ से वादा किया है कि मुझे भविष्य में इतना अधिक अध्यापन नहीं करना पड़ेगा। मैं उनके चर्च के इलाके में ही और अधिक वक़्त बिता पाऊँगा और वहाँ आने-जाने वालों के साथ मिलना-जुलना, बैठना-बतियाना कर पाऊँगा। ईश्वर उनका भला करे।

अब मैं तुम्हें लंदन तक की अपनी पैदल यात्रा के बारे में बताऊँगा। मैं यहाँ से बारह बजे दोपहर चला और शाम पाँच से छह के बीच अपने गंतव्य पहुँच गया। जब मैं शहर के उस हिस्से में पहुँचा जहाँ ज़्यादातर कला दीर्घाएँ हैं, स्टैंड के पास, तो मुझे कई परिचित चेहरे दिखे। भोजन का वक़्त था, सो सड़क पर आवाजाही थी। पहले मुझे वह पादरी मिला, जो उस चर्च में मेरे साथ था, जहाँ मैं पहले धर्मोपदेश देता था, फिर श्री वॉलिस का एक कर्मचारी जिसके यहाँ मैं यदा-कदा जाया करता था। अब उसके दो बच्चे हैं। फिर मुझे रीड और रिचर्डसन भी मिले, उन दोनों की आपस में बड़ी गहरी दोस्ती लगती है।

इसके बाद मैं फोन विसेलिंग गया और वहाँ गिरजे की ऊँची खिड़कियों के लिए बनाए गए, दो स्कैच देखे। पहला एक अधेड़ स्त्री का चित्र था, जिसके नीचे लिखा था, ईश्वरेच्छा बलीयसि। ओह! कितना पवित्र चेहरा था वह! और दूसरा उसी की बेटी का चित्र था, इन शब्दों के साथ—"श्रद्धा ही वह माटी है, जिससे आशा की दीवारें खड़ी होती हैं और वही उस अदृश्य सत्ता के होने पा प्रमाण भी है।' वहाँ और गूपिल एंड कं. की दीर्घा में मैंने और भी कई खूबसूरत चित्र और रेखांकन देखे। इस तरह कला के माध्यम से अपने देश होलैंड का स्मरण करना कितना सुखद है।

मैं सेंट पॉल चर्च भी गया और तत्पश्चात् श्री ग्लैडवेल से मिलने। इसके बाद मैं लंदन के दूसरे सिरे पर, अपने एक पुराने विद्यार्थी से मिलने गया जो बीमारी की वजह से श्री स्टोक्स का स्कूल छोड़कर चला गया था। वह एकदम दुरुस्त था और मुझे गली में ही खेलता मिल गया। अंततः मैं वहाँ पहुँचा जहाँ से श्री जोन्स के रुपये उठाने थे। लंदन के उपनगरों का भी अपना अलग ही रंग है। घरों और उनकी छोटी-छोटी फुलवारियों के बीच खुली जगहें हैं, कुछ घास के मैदान भी हैं, जहाँ

बीच-बीच में पेड़ों के झुरमुट या झाड़ियों से घिरा कोई स्कूल, कोई गिरजाघर, कोई वर्कशॉप दीख जाते हैं।

सूर्यास्त के समय तो गुलाबी धुँध से ढका वह इलाका वाक़ई अद्भुत लगता है और कल शाम बिलकुल ऐसा ही था। काश, तुम भी वहाँ होते, लंदन की उन गलियों को देखने के लिए, जब वहाँ अँधेरा घिर रहा था, सड़क के लैंप एक के बाद एक, दूर-पास जल रहे थे और लोग तेज़ चाल से अपने-अपने घरों को लौट रहे थे। कोई भी वह दृश्य देखकर कह सकता था कि वह शनिवार की एक शाम थी—उस हड़बड़ी में भी जैसे एक शान्ति थी, मानो उसमें आने वाले रविवार की खनक हो। उफ! वे रविवार और उन रविवारों में बँधी-लिपटी ढेरों कामों की वे फेहरिस्तें। इन अभागे, भीड़ भरे, चौराहों, मोहल्लों के लिए कैसी नियामत हैं रविवारों की ये आस!

हालाँकि शहर में अँधेरा घिर आया था, इसके बावज़ूद गिरजों के किनारे-किनारे सड़क पर चलते हुए बहुत अच्छा लगता रहा। स्टैंड के पास से मैंने एक बस पकड़ी, जो मुझे काफ़ी दूर तक ले गई। देर तो काफ़ी हो चुकी थी। मैंने जोन्स का छोटा-सा गिरजा पार किया तो सामने मुझे एक नन्ही लौ टिमटिमाती दिखी। मैं उसके भीतर गया तो वह एक बहुत ही ख़ूबसूरत कैथेलिक गिरजा निकला जहाँ कुछ स्त्रियाँ प्रार्थना कर रही थीं।

कल फिर मुझे 'तनख्वाह जैसा कुछ' मिलेगा—अपने इस नए काम का मेहनताना। मैंने सोचा है उससे मैं अपने लिए एक जोड़ी बूट और एक टोप ख़रीदूँगा। फिर ईश्वर कृपा से दोबारा कमर कसकर काम के लिए अपने को तैयार करूँगा। आजकल लंदन में चारों तरफ़ सुगंधित फूल बिक रहे हैं—उनमें वे वायलेट्स भी हैं, जो यहाँ वर्ष में दो दफ़े खिलते हैं। मैंने भी श्रीमती जोन्स के लिए एक गुच्छा ख़रीदा ताकि कुछ देर को मेरे पाईप की गंध उनके नथुनों तक पहुँचने से बच जाए, ख़ासतौर से रात गए बग़ीचे में। यहाँ का तम्बाकू काफ़ी ख़राब है।

तो प्यारे भाई, जल्द अच्छे हो जाओ! और इस पत्र को तब पढ़ना जब माँ भी तुम्हारे पास बैठी हो, ताकि मैं अपनी कल्पना में तुम दोनों के साथ हो सकूँ। मैं बहुत ़खुश हूँ कि श्री जोन्स ने मुझे अपने चर्च के इलाके में काम देने का वायदा किया है। धीरे-धीरे मुझे ़खुद भी पता चल जाएगा कि मैं चाहता क्या हूँ। तुम्हारी बहुत याद आती है। ख़ासतौर पर श्री टर्सटीग को। माँ से कहना लंदन की उस लम्बी पैदल यात्रा से लौटकर उनके हाथ के बुने मोज़े पहनकर बहुत सुख मिला।

आज फिर सूर्योदय अपूर्व था। मैं हर सुबह, बच्चों को जगाने जाता हूँ, तो एक नया सूर्य उगते देखता हूँ। फिलहाल, बस इतना ही।

बहुत प्यार से,
विन्सेंट

3 अप्रैल, 1878

प्रिय थियो,

इस दौरान मुझे हमारे बीच हुई बातचीत रह-रहकर याद आती रही और उसी के साथ एक कहावत भी मस्तिष्क में चक्कर काटती रही कि—"हम आज वही हैं जो कल थे"—किन्तु इसका अर्थ यह क़तई नहीं है कि हम जहाँ के तहाँ हैं, बल्कि शायद इसका उलट ही। फिर भी, कहावत का मान रखने के लिए इतना जतन तो करना चाहिए कि उस 'जहाँ का तहाँ' से और पीछे न सरकें। और अगर हममें चीज़ों को खुली और स्वतन्त्र दृष्टि से देख पाने का सामर्थ्य हो, तो हमारा उस पर डटे रहना और भी लाज़मी है।

जिन्होंने यह कहा कि—"हम आज वही हैं, जो कल थे" वे सच्चे लोग हैं। सच्चा होना या कम-से-कम उस ओर अग्रसर रहना अच्छी बात है, जो भी स्वयं को उस पंक्ति में शामिल मानेगा, वह निःशंक भाव से अन्त को भला जानते हुए अपने रास्ते अडिग चलता जाएगा। एक व्यक्ति था जिसने चर्च पहुँचकर पूछा—"क्या यह सम्भव है कि मेरे उत्साह ने मुझे बहका दिया हो और मैं बिना तैयारी के, ग़लत राह पर चल पड़ा होऊँ? काश! मैं इस अनिश्चय से मुक्त हो पाता, काश मुझे भरोसा होता कि अन्ततः जीत मेरी ही होगी। तभी उसे एक स्वर सुनाई दिया—"और यदि तुम्हें यह भरोसा होता, जीत का यह इत्मीनान होता तो तुम क्या करते? अभी भी वैसा ही व्यवहार करो और तुम्हारे सारे संशय मिट जाएँगे।" बस फिर क्या था! इसके बाद वह आदमी एक नए विश्वास के साथ, अपनी राह चलता हुआ अपने काम पर लौट गया। वह अपने तमाम सन्देह, संशय आदि पीछे छोड़कर मुक्त हो गया। हमने अपने ध्येय, कर्तव्य आदि के बारे में काफ़ी बातें की थीं और इस नतीजे पर पहुँचे थे कि हमारा असली उद्देश्य उस कार्यक्षेत्र की खोज होना चाहिए जिसमें हम पूरी तरह डूब सकें। शायद हम इस पर भी एकमत थे साध्य का ख़्याल हमारे ध्यान में हमेशा रहना चाहिए। तभी एक पूरे जीवन के संचित परिश्रम और साधना से पाई यह उपलब्धि हमारे निकट अर्थपूर्ण और किसी तुरत-फुरत सफलता से अधिक मूल्यवान भी हो सकती है। एक सच्चा, ईमानदार जीवन जिसे अनेको कठिनाइयाँ और निराशाएँ झुका पाने में अक्षम रही हों, एक सफल, सपाट जीवन से कहीं अधिक वरणीय है। आख़िर तुम कहो वे लोग कौन हैं, जिन्हें ऊँचा कहा जा सकता है? शायद वे ही, जिनके निकट इन शब्दों का महत्त्व है—"कामगार बन्धुओं, तुम्हारा जीवन बहुत कठिन है, तुम्हें बहुत कष्ट है...तुम्हें वरदान प्राप्त है, तुम सुखी हो।" यही तो वे लोग हैं जिनका सम्पूर्ण जीवन एक संघर्ष है, अथक परिश्रम है और इसके बावज़ूद भी वे अविचलित हैं। शायद ऐसा ही बनने की चेष्टा हमें भी करनी चाहिए।

तो फिर चलो हम अपनी-अपनी राह चलें। जहाँ तक मेरा सवाल है, मुझे एक अच्छा पादरी बनने का जतन करना है, जिसके पास कहने को जो कुछ भी हो वह सच हो, सही हो और संसार के कुछ काम आ सके। हालाँकि इसकी तैयारी के लिए मुझे पर्याप्त समय दरकार होगा। तभी मैं

दूसरे से यह कह सकूँगा कि 'अगर हम सच्चे रहें तो हमारे साथ भलाई के सिवाय कुछ हो ही नहीं सकता, भले ही हमारे हिस्से में बड़े दुःख और घनघोर निराशाएँ ही क्यों न आएँ। ढेरों ग़लतियों और असंख्य भूलों के साथ ही क्यों न हो, जीवन को पूरे जोशो-खरोश के साथ निर्बाध रूप से जीने में ही क्षम है। डर-डर के एक स्थूल, सपाट और संकुचित जीवन बिताने के क्या मायने?

इस असीम विपुल सृष्टि में बहुत कुछ से प्रेम करने, बहुत सारी वस्तुओं से एकात्म हो पाने का ही महत्त्व है। उसी में कुछ सार्थकता है। जो भी प्रेम करता है, कर्मयोग की महिमा पहचानता है, वह बहुत कुछ कर पाने की क्षमता अपने भीतर पाता है। प्रेम में डूबकर किया गया सब कुछ सुंदर है। अगर एक पुस्तक हमारे भीतर कोई तार छेड़ती है जैसे मीशले की हिरोन्देल तो वह केवल इसलिए कि वह एक सहज भाव और निश्चल मस्तिष्क से लिखी गई पुस्तक है। कई बार चंद्र गहरे और अर्थपूर्ण शब्दों के सामने कई बड़े और भारी वाक्य कितने खोखले और बेमानी लगने लगते हैं। यदि हम अपने प्रेम में दृढ़ हैं, और उसी को प्रेम करते हैं जो उस एकनिष्ठ प्रेम के योग्य है, यदि हम उसे व्यर्थ की चीज़ों पर ज़ाया किए बगैर हर दिन सींचकर हरा रखने में समर्थ हैं, तो वह प्रेम हमें दिनोंदिन दीप्त और दृढ़तर बनाता है। जितनी लगन व धैर्य से हम अपना काम करते हैं, जितना ही हम उसके शिल्प साधन में जुटते हैं, उतना ही उसके भीतर से हमारा अपना स्वतंत्र और ठोस विचार खड़ा होता है, उतना ही हमारा लक्ष्य सधता जाता है।

अपने चुने हुए क्षेत्र में पैठने, उसकी थाह पाने की क्षमता के साथ ही व्यक्ति के सामने कई संदर्भ और पक्ष खुलते चले जाते हैं। यह सही है कि कभी-कभी कमरे से बाहर निकलकर लोगों से मिलना-बतियाना चाहिए बल्कि कभी तो ऐसा करना नितांत जरूरी हो जाता है। लेकिन इसके बरक्स वह व्यक्ति जिसके लिए अपने कमरे में रमे रहना अधिक स्पृहणीय है और उसे यदा-कदा एकाध मित्र ही दरकरार है, वह व्यक्ति कहीं अधिक सहजता से भवसागर का पार पा सकता है। जहाँ तक संभव हो, हमें परेशानियों और दिक्कतों से रहित दौर का विश्वास नहीं करना चाहिए। बल्कि शायद हमें चीज़ों को सहज उपलब्ध और आसान मानने से बचना चाहिए। अनुकूल परिस्थितियों में भी अपने भीतर रोबिन्सन क्रूसो का जुझारूपन सँजोकर रखना चाहिए ताकि हमारी जड़ें खुद अपने भीतर गहरी जमी रहें। अपने हृदय की इस लौ को बुझने से बचाना है, इसे धधकाए रखना है।

जिस किसी ने भी स्वेच्छा से अकिंचन रहना चुना है, उसने एक अमूल्य खजाना पाया है। वह अपनी अंतरात्मा का स्वर बहुत ही स्पष्ट सुनता है और खुद को ईश्वर के निकट पाता है। उसी मूरत में फिर उसे एक अभिन्न सखा भी मिलता है जो उसके भीतर जमे कैसे भी अकेलेपन को उखाड़ फेंक सकता है। ईश्वर में विश्वास रखने वाला सुखी है, और अनेक समस्याओं और दुखों के बावजूद वह अपनी आस्था से जीवन की कठिनाईयों को जीत लेने का माद्दा रखता है। ईश्वर में आस्था का कोई विकल्प नहीं हैं। वस्तुओं के रहस्य और उनके जादू को जानना ज़रूरी है। यह

अच्छा ही है कि हम विनम्र, संवेदनशील और सहृदय बने रहें, चाहे कभी-कभी हमें इसे दूसरों से छिपाना भी पड़े, जो कि पड़ता ही है। अच्छा हो कि हमारी अनुभूति का विस्तार साधारण जन के सरल हृदय तक हो और तथाकथित बुद्धिजीवियों के वाक्‌जाल से दूर रहा जाए। हमारी पहुँच उस सहज मानवबोध तक हो—इससे अधिक चाहने को है ही क्या। वह जो जीवन स्पंदन है, वही हर घट की सहजावस्था है। यह सच है कि मनुष्य की खोज किसी अनंत, अनाम, असीम जादू या रहस्य की है। इससे कम में उसकी गति नहीं है। कमोबेश यही धारा है, जिसका प्रबुद्धजनों ने भी अनुसरण किया है। उन सभी ने जिन्होंने थोड़ा अधिक गहरे उतरकर विचार किया है, थोड़ा अधिक खोजा है, थोड़ा अधिक प्रेम किया है। यदि हम कुछ भी पकड़ना चाहते हैं, तो हमें अपने को उस अतल गहराई के सुपुर्द करना होगा, और अगर हम अपनी बंसी के काँटे में रातभर में कुछ नहीं पकड़ पाते, तो भी ज़रूरी यही है कि एक पल भी गँवाए बिना, अगली सुबह हम दोबारा पानी में अपना जाल डालने को तैयार खड़े रहें। तो चलो, हम प्रकाश की ओर अपने अडिग चलते जाएँ। उनकी तरह जो जानते हैं कि सबमें हमारा, और हममे सबका अंश है। फिर चलो, सब कुछ में विश्वास रखते हुए, बहुत कुछ की आशा करते हुए, सब जीते भोगते हुए, हम चलायमान रहें। जीवन एक उत्सव हो जिसमें अपनी कमियों के लिए कभी खेद न हो, चूँकि जो पूर्ण है, उसमें भी यह कमी है कि कोई कमी नहीं। जो स्वयं को पर्याप्त प्रबुद्ध मानता है, उसे कभी-कभी दोबारा शून्य से शुरू करना पड़ सकता है।

''सच्चे मनुष्य'' वही होंगे जो जीवन की कठिन परीक्षाओं और असंख्य झंझावतों से गुज़रकर बल ही पाएँगे और दैव कृपा से अपने स्व-भाव को प्राप्त होंगे। ऐसा मैं चाहता हूँ दोस्त, हमारे साथ भी हो। यही आशीर्वाद तुम्हें प्राप्त हो, ईश्वर सदा तुम्हारे साथ रहे, तुम सफल होओ, यही मेरी कामना है। तुम्हारी विदाई पर भरे हृदय से,

सप्रेम,
विन्सेंट

—'मुझ पर भरोसा रखना' से साभार

विन्सेंट वान गॉग (1853-1891) उन बिरले चित्रकारों में है, जो पत्रों के रूप में अपने जीवन, दर्शन व कर्म का एक ब्यौरेवार रोज़नामचा छोड़ गए हैं, जिसके भीतर से न केवल एक समूचे कालखंड की मुकम्मिल तस्वीर खड़ी होती है, बल्कि कला के धर्म और प्रकृति पर एक अहम विमर्श भी उभरता है। उनके पत्रों से गुज़रना विन्सेंट के पढ़े-लिखे, सोचे-विचारे, अनुभवे और रचे की रोशनी में कलासिद्धांत के एक पूरे पाठ से गुज़रना है; उसके इतिहास और बालगति को नए सिरे से देखना-समझना है। उसके जीवंत वर्तमान मे पिछली पीढ़ी के कलाकार, पूर्वजों से सहृदयों की उपस्थिति की तरह हैं, जिनके स्निग्ध घेरे में खड़े होकर वह भावी रचनाकार का आवाहन करता है।

अनुवादक का परिचय

युवा कवि—कथाकार राजुला शाह ने तीन बरस की आयु में रंगों से कागज पर असंख्य चेहरे बनाते हुए दुनिया को अपनी भाषा में टटोलना शुरु किया। उसी दुनिया के बाहर इन्होंने किसी तरह स्कूल के यातनामय दिन गुज़ारे और बारहवीं में उसके फंदे से निकल बड़ौदा फाइन आर्ट फैकल्टी का रुख किया। अपरिहार्य कारणों से वहाँ एक ही बरस का प्रवार रहा; जिसमें से छनकर अब स्मृति में केवल लाइब्रेरी में रखे विन्सेंट वान गॉग के पुरानी जिल्दवाले अंग्रेज़ी खंड बचे हैं। उनके अलावा ज्योति भट्ट की कुछ अविस्मरणीय क्लासेज़ और ज्योत्सना बेन का जीवंत सिरेमिक विभाग। साहित्य से कहीं कोई छुटकारा न जानते हुए उन्होंने प्रकारांतर से अंग्रेजी साहित्य में स्नातकोत्तर किया और फिर 'हर शह में कुछ कमी है'; की तर्ज़ पर, 'सिने-माता' (फिल्मकार कमल स्वरूप के नामकरणवाली कला की सबसे नई देवी!) की शरण लेते हुए पुणे के फिल्म संस्थान से फिल्म निर्देशन की पढ़ाई की। इस बीच भरसक प्रयत्न के बावजूद 'सबद' से बचना संभव नहीं हो पाया। सो अब वे हिन्दी-अँग्रेज़ी में लिखती हैं और इनके 'सबद निरंतर' व कविता संग्रह 'परछाई की खिड़की से' चर्चित व पुरस्कृत रही हैं। वे गद्य भी लिखती हैं। ईरानी कवि फरूग फरुखज़ाद की कविताओं का इनका हिन्दी अनुवाद 'तनाव' सीरीज़ में तथा इला र. भट्ट की महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'वी आर पूअर बट सो मैनि' का अनुवाद 'लड़ेंगे भी, रचेंगे भी' नाम से प्रकाशित है। फिलहाल वे महाराष्ट्र के वारकरी संप्रदाय पर फिल्म निर्माण में जुटी हैं व फिल्मकार मित्र अर्ध्य के साथ सीज़नग्रे के फिल्म व प्रकाशन का काम करते हुए पुणे में रह रही हैं।

बौद्ध धर्म और विश्व-एकता

—डॉ. सर हरीसिंह गौर
अनुवाद : अभिषेक सक्सेना

(एक ऐसे समय में जब विश्व के अलग-अलग हिस्से अलग-अलग वजहों से आपसी टकरावों और युद्ध में व्यस्त हैं यह प्रश्न सहज ही उठता है कि इस सब का अन्त क्या होगा? कब होगा? कैसे होगा? विश्व पहले ही दो-दो महायुद्धों की विभीषिका को झेल चुका है। उसमें एक और युद्ध देखने की शक्ति शेष नहीं है। ऐसे में आखिर वह क्या उपक्रम, पराक्रम, पुरुषार्थ हो सकता है जिसके करने से विश्व में शांति की स्थापना की जा सके। विश्वविद्यालय के संस्थापक डॉ. हरीसिंह गौर का द्वितीय विश्वयुद्ध की पीठिका पर लिखा गया यह लेख बौद्ध धर्म में आस्था और इस वैज्ञानिक धर्म की शिक्षाओं के अनुपालन के माध्यम से विश्वशांति की स्थापना का एक सरल, सहज एवं बहुमान्य मार्ग प्रशस्त करतें हैं जो निर्विवाद रूप से आज की परिस्थितियों में भी कारगर साबित होगा।)

आत्मश्लाघा मनुष्य की सहज वृत्तियों में सर्वाधिक प्रबल वृत्ति है। पिछले दिनों जिस प्रकार की शांति का अनुभव हमने किया है... वह निरर्थक है क्योंकि उसका उपयोग दोनों ही पक्षों ने एक और संघर्ष की तैयारी के लिए किया। इन संधियों, अनुबंधों, समझौतों, सहमतियों और अंतर्राष्ट्रीयता के तमाम दावों में सदियों से हमारे जीवन को प्रभावित करने वाले 'मैं' के आधारभूत सिद्धान्त को भुलाया नहीं गया है। साथ-साथ जीने की कला ही तो सभ्यता है। मानव जाति का इतिहास बताता है कि हम इस कला में कितने कम पारंगत हो पाये हैं। हर युद्ध की ही तरह यह युद्ध भी समाप्त हो जायेगा। पर क्या इससे इंसान को इंसान से लड़ाने वाली वास्तविक समस्याओं का समाधान हो सकेगा? हो सकता है संधियों और समझौतों के माध्यम से आर्थिक मतभेदों और साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं को कुछ समय के लिए दरकिनार कर दिया जाये, पर यह स्थायी समाधान नहीं है। युद्ध की समाप्ति पर की जाने वाली ये संधियाँ अन्तरतम् में पड़ी स्वार्थ, वैमनस्य और नफरत की गाँठों को नहीं खोल सकतीं। विश्व-शांति और मानव कल्याण का सपना संजोने वाले साहित्यकार और चिंतक ऐसे मौकों पर हमें सदा ही चैतन्य करते आये हैं। तमाम वक्ताओं और लेखकों ने तो हमें मानव होने के नाते अपने उद्देश्यों एवं मानवता

के प्रति अपने कर्त्तव्यों के प्रति आगाह करना प्रारम्भ भी कर दिया है। हम सब अभी यह समझ ही नहीं पाये हैं कि वैश्विक स्तर पर शांति की स्थापना और इंसान को इंसान से बाँटने वाली अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान करना हमारे लिए कितना आवश्यक है। यदि वाकई हमें अपनी आने वाली पीढ़ी को सुखी देखना है तो हमें इन समस्याओं का स्थायी समाधान खोजना ही होगा। और यह समाधान इंसान की मनोवृत्तियों को समझे, उनको बदले, उन पर चोट किये बगैर संभव नहीं है। आज से लगभग दो हजार छह सौ वर्ष पहले एक महान चिंतक—जिसे अब भगवान का दर्ज़ा प्राप्त है—ने जीवन के हरेक छोटे-बड़े पल में 'मैं' के प्रदर्शन (menifestation) को पहले ही देख लिया था। उन्होंने इसका समाधान खोजने के लिए कठिन साधना की और 'मध्यम मार्ग' के रूप में एक उपाय भी पाया। उन्होंने पाया कि इस संसार में किस तरह संस्थागत गठजोड़ों का विकास छोटे-छोटे राज्यों में होता है, जहाँ राजा अपनी प्रजा पर शासन करता है उस पर अपनी शक्ति द्वारा नियंत्रण करता है और उन्हें अपनी इच्छाओं पर नाचने पर मजबूर करता है। आस्था के पुजारियों को यह राजा-प्रजा वाली परम्परा बहुत उचित लगी और इसी की तर्ज़ पर उन्होंने अपने-अपने धर्मों में एक महाराजाधिराज की परिकल्पना की जो इस ब्रह्माण्ड पर शासन करता है और इसकी गतिविधियों को नियंत्रित करता है। उसका नियंत्रण करने का तरीका दुनियावी राजाओं की ही तरह गुणों पर पुरस्कार देना और आदेशों की अवहेलना करने पर सजा देने का था। बौद्ध धर्म के संस्थापक ने इस पूरे प्रपंच में ही खोट देखा और एक ऐसे पंथ की स्थापना की जिसमें न तो कोई ईश्वर है और न ही सीधे या किसी के माध्यम से प्रार्थनाओं, उपवासों, पश्चातापों द्वारा उसे प्रसन्न करने का कोई प्रयास। इस पंथ में यदि कुछ पुरस्कार है तो वह जन्मजात गुणों के अभ्यास द्वारा मिलने वाला पुरस्कार है जो निर्वाण की ओर ले जाता है। 'निर्वाण' अन्तरात्मा की संतुष्टि को ही समस्त गुणों का उपहार मानना है। संस्थागत आस्था-व्यापारियों को एक स्वर्ग और एक नर्क की रचना भी करनी पड़ी जहाँ ऐसे पुरस्कार और दण्ड दिये जा सकें। साथ ही एक आत्मा तथा एक और जीवन की रचना भी करनी पड़ी जहाँ इन्हें प्राप्त किया या भोगा जा सके। अधिकांश धर्मों की तात्त्विक उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है जिसने न केवल मानव संघर्ष के लिए एक और वजह दे दी बल्कि धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदर्शों को स्थापित करने के बजाय अराजकता को बढ़ावा दिया। आत्मविहीन 'स्व'—'मैं' नहीं 'स्व'— का यह पंथ—जिसका बाद में संस्थागत धर्मों की ही तरह ह्रास हुआ है— 2,600 वर्षों तक रक्तपात से मुक्त रहा है। यह सभी जानते एवं मानते है कि बौद्ध धर्म ने कभी एक बूंद रक्त भी नहीं बहाया है। साथ ही साथ सभी प्राणियों— चाहे वे इस पंथ के अनुयायी हों अथवा नहीं— को शांति और सुख प्राप्त करने का मार्ग बतलाया है बशर्ते वे जीवन की उस वृहत्तर योजना का अनुसरण करें जिसका इन्होंने प्रतिपादन किया है।

आधुनिक विज्ञान ने बौद्ध धर्म को छोड़कर सभी धर्मों की आलोचना की है। यही वह अकेला धर्म है जो आधुनिक आलोचनाओं के विस्फोट में खुद को बचा सका है। इस धर्म का आधारभूत सिद्धान्त तत्त्ववादी है जिसमें आत्मा को अतींद्रिय, स्पर्शगोचर एवं अमूर्त कल्पना माना गया है। परन्तु यह एक भौतिक संकल्पना है जिसका प्रभाव युगों-युगों से इंसानों में चला आ रहा है।

यह महान धर्म हमें बताता है कि हम मानव समाज की पुनर्रचना इंसानी भाईचारे के आधार पर कर सकते हैं जो किसी जाति, पंथ, या भौगोलिक सीमा को न मानता हो बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति को मानवीय सहयोगवृत्ति, मानवीय प्रेम और त्यागमयी मानव सेवा के आधार पर जोड़ता है। पिछली सदी में 'उपयोगितावाद' और 'वस्तुनिष्ठवाद' ने इस समस्या का समाधान इसी दिशा में खोजा परन्तु ये कुछ बुद्धिजीवियों तक सीमित रह जाने के कारण जनसमूह का ध्यान आकर्षित ही नहीं कर सका। धार्मिक विचारों को जबरन थोपने वाले तथा उन विचारों के सार और सामान्य धर्मसूत्रों को मानव जाति के लिए सुलभ कराते रहने वाले सुधारकों का यही इतिहास है।

मुझे लगता है कि इस संसार में बेहतर एवं कल्याणकारी व्यवस्था स्थापित करने के लिए हमें मानव समाज की पुनर्रचना करनी होगी। जिसका आरम्भ मानव समाज की उत्पत्ति के आदि बिन्दु से ही करना होगा। यह शुरुआत दृढ़ता पूर्वक समानता, स्वतंत्रता, प्रेम व एक-दूसरे के लिए त्याग पर आधारित होनी चाहिए। इस युद्ध की समाप्ति पर भी तब तक कोई उम्मीद नहीं जब तक कि यह नया सिद्धान्त सिर्फ कुछ लोगों का पंथ/जाति न होकर मनुष्य के 'जीवन का मूलमंत्र' नहीं हो जाता। आओ हम सब मिलकर एक ऐसे विश्व का निर्माण करें जिसमें सांस्कृतिक एकता हो।

विश्व की शांति की तितिक्षा और उन्नति महज दो देशों या महाद्वीपों की अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही निर्भर नहीं करती बल्कि बौद्धिक चेतना के विकास पर निर्भर करती है। इस समस्या का समाधान आसान नहीं है परन्तु इसका समाधान तो मनुष्य को प्राथमिकता के आधार पर करना ही होगा। मनुष्य ही तो वह प्राणी है जो अपनी संतानों के समक्ष अपना आदर्श रख सकता है। विश्व की आने वाली शांति मानवीय जीवन के उत्थान पर निर्भर करता है जिसमें मानव चिंतन, प्रयासों एवं एकता के नए एवं उच्चतर आयामों को प्राप्त कर ले।

हिन्दी अनुवादक
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

एस. मल्लिकार्जुनन्
सागर विश्वविद्यालय के ब्रदर टेरेसा

— कान्तिकुमार जैन

प्रसिद्ध इतिहासकार और 'खून के छींटे : इतिहास के पन्नों पर' जैसी विचारोत्तेजक पुस्तक के लेखक डॉ. भगवतशरण उपाध्याय सागर आये हुए थे। 1978 के दिसम्बर के अंतिम सप्ताह में विभिन्न विभागों में उनके व्याख्यान हो रहे थे। हिन्दी विभाग में भी हुआ। हिन्दी साहित्य के वर्तमान विकास पर। पता नहीं कैसे भूतों का संदर्भ आ गया। विद्वान् वक्ता ने कहा—हिन्दी उपन्यासकार सभी प्रकार के विषयों को अपने उपन्यासों का कथ्य बनाते है पर भूतों को विषय बनाकर लिखा गया एक भी उपन्यास मेरे देखने में नहीं आया है। भगवतीचरण वर्मा की एक लघु कथा जरूर मेरे पढ़ने में आयी है—एक सज्जन रेल में तृतीय श्रेणी में यात्रा कर रहे थे। सहसा एक यात्री खिड़की से कूदकर अंदर आया और सामने वाले यात्री से पूछा, क्या आपने कभी भूत देखा है?—नहीं तो। इतना सुनना था कि खिड़की से कूदकर आने वाला सहसा गायब हो गया। पर भूतों को लेकर, उनके विषय में फैले हुए अंध विश्वासों को लेकर, उनकी वास्तविकता को लेकर लिखा गया कोई उपन्यास मेरे देखने में नहीं आया। अंग्रेजी में ऐसा नहीं है। वहां भूतों के अस्तित्व पर उपन्यास ही नहीं लिखे जा रहे हैं, उनको लेकर अनुसंधान भी कम नहीं हो रहे हैं। एक वैज्ञानिक ने तो उनका अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए अपना जीवन ही खपा दिया है। क्या तो नाम है उसका—उन्होंने उस भूत विज्ञानी का नाम याद करने की बहुतेरी कोशिश की पर उसका नाम उन्हें याद नहीं आया तो नहीं ही आया। मैंने उनकी कठिनाई देखी तो थोड़ी सहायता करने के उद्देश्य से कहा—सर आलीवर लाज़। पूरे कक्ष की निगाहें मेरी ओर उठीं। उपाध्याय जी ने पुष्टि की—हाँ, सर आलीवर लाज़। पर आपको कैसे पता? यह तो कोई बड़ी बात नहीं, आज से तीस साल पहिले इसी विश्वविद्यालय के अंग्रेजी के मेरे अध्यापक मल्लिकार्जुनन् साहब ने इंटर मीडियेट में 'एसेज़ आफ टूडे' में संकलित पाठ 'द गोल्डन ड्रगेट' पढ़ाया था। उसमें सर आलीवर लाज़ का जिक्र आया था। मल्लिक साहब ने सर आलीवर के संदर्भ की बहुत सी बातें हमें बतायी थीं। वे मुझे अभी तक याद हैं। सर आलीवर लाज़ का नाम भी।

यह 22 दिसम्बर, 1978 की बात थी। मैंने 9 दिसंबर को हिन्दी विभाग में माखनलाल चतुर्वेदी पीठ के हिन्दी प्रोफेसर के रूप में अभी-अभी ज्वाइन किया ही था। स्वाभाविक था हिन्दी के अध्यापक

से यह उम्मीद नहीं की जाती कि वह इंग्लैंड के किसी भूत विशेषज्ञ का नाम अपनी स्मृति में रखे। हाँ, हमसे जानना हो तो हिन्दी के कठिन काव्य के प्रेत के बारे में पूछो, हम इस प्रेत के बारे में दो चार किंवदंतियाँ और उक्तियाँ सब बता देंगे—'केशवदास : एक अध्ययन' में सब लिखा है पर अंग्रेजी के लाज़ का नाम- राम राम। शाम को मल्लिक साहब से भेंट हुई। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि तीस साल पहिले का उनका पढ़ाया हुआ किसी को आज तक याद होगा। उन्होंने मुझसे पूछा भी कि तुम्हें यह नाम कैसे याद रहा आया। कुछ अध्यापक होते हैं जिनका पढ़ाया हुआ कक्षा छूटते ही विस्मृत हो जाता है। कुछ का पढ़ाया हुआ सोने के समय तक याद रहता है। कुछ का पढ़ाया हुआ उस विषय की परीक्षा के समय तक। पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिनका पढ़ाया हुआ आजीवन याद रहा आता है। मल्लिक साहब का पढ़ाया हुआ मुझे 30 साल बाद तक याद था। मैंने कहा, आलिवर लाज़ का नाम मुझे मरघट तक याद रहेगा। उसकी वजह है। आपको याद होगा आपकी अंग्रेजी की कक्षा में एक लड़का था जालम सिंह बोथरा—अच्छा खासा, लंबा चौड़ा, काला भुजंग। हाँ, वही। आप चाहते थे कि हम लोग ठीक अंग्रेजी लिखें ही नहीं, ठीक अंग्रेजी बोलें भी। आप कक्षा में हर विद्यार्थी से पाठ का एक एक पैरा पढ़वाते थे। बोथरा बहादुर के हिस्से पर आलीवर लाज़ वाला पैरा आया। बोथरा बहादुर पाठ कर रहे हैं—सर आलीवर लोड़गे। आप उसका उच्चारण सुधार रहे हैं—नो माई ब्याय, दिस इज़ नाट लोड़गे, दिस इस लाज़। बोथरा कह रहे हैं—काय ड कहां गओ। डी साइलेंट है। काय, लाज़ में साइलेंट काय है, गोल्ड स्मिथ में काय नइयां। बोथरा बहादुर समझ नहीं रहे हैं, समझने को तैयार नहीं है। आप उन्हें समझाये बिना चुप होने को तैयार नहीं। अंत में बोथरा वीर की जीत हुई—हम देखत हैं दारी डी को कोआ बेदखल कर रऔ।

बेदखल। तो यह मामला केवल साइलेंट डी का नहीं है। बेदखली का है। कोई नश्तर है जो बोथरा के मन में भीतर तक धँसा हुआ है। कोई खलिश है जो जिगर के पार नहीं हो रही है।

सर, मैं शाम को बोथरा के कमरे में गया। पता लगाने के लिए कि डी के साइलेंट होने को लेकर वो इतना परेशान क्यों है। आज तक आपको यह बताने का मुझे मौका नहीं मिला था। आज आपको बताता हूँ। बोथरा ने बताया कि जब वह चार या पाँच साल का था उसके बप्पा की मौत हो गयी थी। गांव के दबंगों ने उसकी माँ को और उसको उसकी झोपड़ी से निकाल दिया था और खेत पर कब्जा कर लिया था। अपने घर और खेतो से बेदखली के दिन जालम सिंह बोथरा को भुलाये नहीं भूलते। वो किसी को बेदखल होते हुए देख नहीं सकता। कोई उसकी जुबान को साइलेंट करना चाहे तो वह विफर जाता है। बेदखली के दिन उसने और उसकी माँ ने रो रो कर काटे। उसने सुना कि सागर में कोई नया विश्वविद्यालय खुला है जहाँ गरीबों की फीस माफ रहती है। तो वह बेदखल गरीब, सताया हुआ लड़का सागर आ गया। पर जब उसने देखा कि यहाँ भी कोई जबर, जालम, दबंग किसी को साइलेंट कर रहा है, उसे बेदखल कर रहा

है तो वह भड़क गया। उसने मुझसे कहा—जब तक मेरी सांस है मैं किसी को बेदखल नहीं होने दूँगा। दारी डी को, हमाये रैत, को आ बेदखल कर रऔ।

मल्लिक साहब बोथरा का यह वीर वाक्य सुनकर चुप थे। थोड़ी देर बाद पूछा, बोथरा कहाँ है ? मुझे नहीं मालूम था। हम राजाओं, महाराजाओं के हाल चाल का तो इतिहास जानते हैं पर बोथरा जैसों का इतिहास जानने की हमारे यहाँ कोई परंपरा नहीं है। हाँ, लाज़ की बात तो रह ही गयी। मैं उस दिन से आज तक बेदखल किये गये बालक बोथरा को भूल नहीं पाया। अब देखिये, मै 56 से सरकारी नौकरी में रहा। हर चौथे, पाँचवे साल मेरा ट्रांसफर हो रहा है। बोरिया-बिस्तर लेकर शहर-शहर भटक रहे हैं। नये शहर में कहाँ ठहरेंगे ? किसी लाज़ में न? मैं जब भी किसी लाज में ठहरता, मुझे वीर बहादुर बोथरा बजरंगी की याद आती। लोड़गे याद आता, सर आलीवर लाज़ याद आते, आप याद आते। अब जब डॉ. भगवतशरण उपाध्याय को भूतों की याद आ रही है तो मुझे उन पर शोध करने वाले सर आलीवर लाज़ की याद कैसे नहीं आयेगी ? Lodge मेरी स्मृति में ऐसा रचा-बसा है कि उसे अब न कोई dis Lodge कर सकता है, न कोई dodge दे सकता है। मल्लिक साहब मेरी बात बड़े ध्यान से सुन रहे थे। बोले, हाँ Association किसी बात को याद रखने का सबसे बड़ा कारण है। तुमने बोथरा का लोड़गे से और लोड़गे को लाज़ से जोड़ दिया ताज्जुब की बात है।

जब मैं 1948 में प्रथम वर्ष के छात्र के रूप में सागर विश्वविद्यालय आया तो मल्लिक साहब तरुण ही थे। 23-24 वर्ष के रहे होंगे। उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में बी.ए. (आनर्स) किया था। यह सुविधा उन्हीं को मिलती थी जो अत्यंत मेधावी हों- ब्रिलियेंट। बी.ए. के फर्स्ट क्लास संस्थापक डॉ. हरीसिंह गौर को तरुण प्रत्याशी की सर्वांगीण मेधा, आत्मविश्वास, विदग्घता, जीवट पसंद आ गया, उन्होंने मल्लिक साहब का चयन कर लिया। वे उस समय भी बेहद दुबले पतले थे—एज़ थिन एज़ ए रेल। पर रेल का दुबला पतला होना ही उसकी मजबूती का प्रमाण है। उनका जन्म मदुरई में हुआ था पर वे न बड़जट बोलते थे, न गवर्नमेंट। बेहद साफ सुथरी अंग्रेजी पर बेहद धीरे। पिछली बैंच पर बैठने वाले को उनको सुन पाना कठिन होता, प्रायः असंभव।

अतः उनके विद्यार्थी जो दूसरे अध्यापकों की कक्षा में बेक बेंचर होने का जुगाड़ करते, मल्लिक साहब की कक्षा में धकापेल करके फ्रंट बेंचर होना चाहते। मल्लिक साहब एक कंधा ऊँचा करके पढ़ाते। बायाँ कंधा। उनके दाहिने कंधे के झुके रहने के कारणों में एक कारण यह भी माना जाता कि उनके दाहिने हाथ में पानों का बंडल बराबर बना रहता था। वे घर से जब भी विभाग में आते कभी; कनछेदी, कभी गबडू की दुकान से ही आते। कनछेदी पुरानी साइट में पानों की दुकान चलाता था और गबडू न्यू साइट में। पानों का बंडल मल्लिक साहब के लिए दिन भर की ऊर्जा का स्रोत होता। कक्षा जाने के पहिले वे पान थूक देते। उनके बायें कंधे के उठे रहने का कारण कुछ दाहिने हाथ से क्रिकेट का बैट पकड़ने को मानते, कुछ पुस्तकालय में सेल्फ से

किताबे निकालने को। कुछ बदमाश लड़के उनके दाहिने कंधे के झुकने का कारण बिहारी के दोहे में खोजने की कोशिश करते—

सूधै कँधा न धर परत
सोभा ही के भार।

मल्लिक साहब कक्षा में खड़े होकर पढ़ाते, वे घूम कर तो नहीं पढ़ाते थे पर मैंने उनको बैठकर पढ़ाते हुए कभी नहीं देखा। वे खड़े रहते, लगता जैसे कोई ट्यूब लाइट का राड ही खड़ा है— प्रकाश फैलाता और उनके अध्यापन का प्रकाश सामने वालों को ज्यादा दिखता तो क्या आश्चर्य। सागर विश्वविद्यालय के लिए संस्थापक कुलपति का सिद्धांत वाक्य था Lux et luce प्रकाश जो आलोकित तो करता है चकाचौंध पैदा नहीं करता। मल्लिक साहब Lux et luce के हिमायती थे। उनको कक्षा में या कक्षा के बाहर किसी को डांटते हुए शायद ही किसी ने देखा हो। डाँटना तो दूर की बात, वे जोर से भी शायद ही कभी बोलते। एक बार उन्होंने मुझको जरूर डाँटा तो नहीं, डाँटने के स्वर में जोर से कहा था— कान्तिकुमार यू टाक टू मच ! हम लोग डॉ. दत्ता की पिकनिक पार्टी में राहतगढ़ गये हुए थे। उन दिनों दत्ता साहब की पिकनिक पार्टियाँ पूरे विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध थी। इन पिकनिकों में कोई भी सम्मिलित हो सकता था। उन दिनों प्रसिद्ध रंगकर्मी सत्यदेव दुबे सागर के ही छात्र हुआ करते थे। वे राहतगढ़ के जल प्रपात पर कहीं भी, किसी भी शिलाखंड पर खड़े होकर 'टू बी आर नाट टू बी' शुरू कर देते। राहतगढ़ का जल प्रपात इतना हहराता हुआ करता था कि बिना 'पंचम स्वर में' बोले कुछ भी सुन पाना संभव नहीं था। सत्यदेव दुबे जोर से बोलते तो हम सब भी जोर से बोलना शुरू कर देते। ऐसे में मल्लिक साहब को लगता कि मैं भी—सदा संयम से, धीरे बोलने वाला भी, जोर से बोल रहा हूँ। उन्होंने मुझसे किंचित जोर से कहा—कान्तिकुमार, यू आर टाकिंग टू मच एंड अू लाउड। उसके बाद मेरा स्वर थोड़ा धीमा हुआ पर वह बहुत देर तक धीमा नहीं रह पाया। अध्यापक बनने के बाद भी कक्षा में कुछ ज्यादा ही जोर से पढ़ाता। मुझे याद है जबलपुर के महाकोशल महाविद्यालय के छात्रों से परसाई जी ने मेरे जोर से पढ़ाने के बारे में सुनकर मुझसे कहा था—तुम्हारा पढ़ाना मैं घर बैठे सुन लेता हूँ। शायद यह मल्लिक साहब के धीमें पढ़ाने की प्रतिक्रिया हो!

मल्लिक साहब का हम लोगों ने पूरा नाम शायद ही कभी लिया हो। उनका पूरा नाम तो एस. मल्लिकार्जुनन् था पर उनके सहयोगी उन्हें मलिक कहते, ज्यादा अंतरंग मालिक। हम विद्यार्थी उन्हें मल्लिक साहब कहते। लड़कियाँ मलिक सर। मैं आज तक नहीं समझ पाया कि लड़कियाँ अपने अध्यापकों के नाम या पदनाम के आगे सर क्यों जोड़ती हैं। पुरुष अध्यापक लड़कों के लिये साहब होते—राय साहब। कभी वर्मा जी—वाजपेयी जी पर लड़कियों के लिए वे सदैव सर ही होते। राय सर, वाजपेयी सर। मल्लिक सर अपने दुबले पतलेपन से परिचित थे—कभी कभी वे स्वयं को thin as a pin कहते। वे अल्पीन की तरह दुबले थे—अल्पीन की तरह शार्प भी।

अपने आपको क्रिकेट का विकेट जैसा कहना उन्हें पसंद था। वे घर में लुंगी पहिन कर ही रहते-दाक्षिणात्यों की शैली में। पर बगीचे में काम करना हो, बाहर के नल से पानी भरना हो तो वे अपनी लुंगी को घुटनों के ऊपर से आधा उल्टा लेते—लुंगी एट हाफ मास्ट। व्हाइट पेंट, बाटा की चप्पलें। जूते और मोजे पहिने शायद ही किसी ने उन्हें देखा हो। वे क्रिकेट भी खेलते तो चप्पलें पहिनकर ही। फुटबाल खेलते हुए वे फुट पर कुछ भी धारण नहीं करते। कहते, यह फुटबाल है, कोई शूबाल थोड़े ही है।

मल्लिक साहब भले धीरे बोलते पर वे हमेशा चौकन्ने रहते। क्रिकेट ग्राउंड पर उनके चौके छक्के मशहूर थे। अपने लंबे-लंबे डगों से वे एक रन तो बनाते ही बनाते। हाथों में डूबलिंग करते हुए आगे बढ़ने वाले मल्लिक साहब से गेंद छीनना असंभव ही था। फुटबाल की फुलबैक लाइन से मल्लिक साहब जो किक लगाते, उसका उत्तर प्रतिपक्षी के बैक ही देते। बीच के खिलाड़ी कितना ही हाथ पैर मारें पर हवा में उड़ती हुई गेंद उनके सिरों पर से निकल जाती। वालीबाल में मल्लिक साहब हाथों से कम, हेड से ज्यादा खेलते। ग्राउंड कोई भी हो, मल्लिक साहब अनन्य थे। पिकनिक पाटी में भी वे अनन्य ही रहते। सागर विश्वविद्यालय के प्रारंभिक दिनों में दैनांदिन जीवन की एकरसता मिटाने के लिए जो उपक्रम किये गये, उनमें दत्ता साहब की पिकनिक पार्टियाँ सारे विश्वविद्यालय में मशहूर थीं। दत्ता साहब अँग्रेजी के रीडर थे—विशुद्ध भारतीय परिधान धारण करते, शान्तिपुरी धोती, चप्पलें भी शान्ति निकेतनी। कुर्त्ता, कलफ लगा, श्वेत, चून्नटवाली बाहों वाला। महीने में एक बार वे पिकनिक पार्टी का आयोजन करते। वह न केवल अंग्रेजी के अध्यापकों या छात्र-छात्राओं की होती, जो चाहे उसमें सम्मिलित हो सकता था। रंगकर्मी सत्यदेव दुबे हों या कवि शिवकुमार श्रीवास्तव, हाकी के खिलाड़ी छुट्टन हों या छात्र नेता हनुमान वर्मा, बी.ए. में पढ़ने वाली उषा चैटर्जी हों या बासंती नायक—सब उन पिकनिकों में भाग लेने को लालायित रहते। उन पिकनिकों का नायाब प्रसंग होता—पुरी पोरिंग सेरेमनी। लड़कों ने जंगल में घूमकर सूखी लकड़ियाँ बीन ली हैं, लड़कियाँ उपले बटोर लायी हैं, पहलवानों ने शिलाखंडों से चूल्हा बना लिया है, चमेली नायक और सिया बाई गौर ने उसमें आग परचा ली है, वीरेन्द्र कौर सोडी ने आटा गूँथ लिया है और इन्दिरा शर्मा ने लोइयाँ काट ली हैं, सुचरिता बेल रही हैं और दत्ता साहब से पहिली पूरी खौलती हुई कढ़ाई में डालने का अनुरोध कर रही हैं—दत्ता साहब बैंत का सहारा लिये हुए हैं।

उस ऊबड़ खाबड़ वन्य प्रदेश में एक हाथ से बेंत का सहारा लिये बिना पूरी कढ़ाई में डालना सुरक्षित नहीं था। क्लिक, क्लिक, क्लिक। इला बनर्जी ने झारे से वह पहिली पूरी निकाल ली है। वह वन देवी के लिए है। जिन छात्र-छात्राओं की पी.पी.सी. में सीधी भागीदारी नहीं थी वे राहतगढ़ के घने जंगलों में धँस रहे हैं। कोई अकेले, कोई किसी बांधवी को लेकर। कुछ दुस्साहसी अपनी तैराकी पर नाज करने वाले, पिच्छल शिला खंडों पर पैर जमा जमा कर नदी की लहराती

धारा में उतर रहे हैं। सहसा सदा धीमे बोलने वाले मल्लिक साहब की सीटी जैसी- आवाज सुनाई देती—नो, नो माइ वायज़, नो फर्दर। देट विल प्रूव टू बी डेंजरस। वे किसी शिलाखंड पर खड़े होकर पूरी पिकनिक पार्टी की सुरक्षा की कमान संभाले हुए हैं। पूरी पार्टी जिस हँसी खुशी के साथ राहतगढ़ आई है उसी हँसी खुशी के साथ वापिस भी लौटे। राहतगढ़ का जल प्रपात अपनी दुर्घटनाओं के लिए बदनाम था। बस से उतरने वाले पिकनिकार्थियों की संख्या को लेकर वे सावधान रहते - वह गिनती किसी भी प्रकार कम न हो यह जिम्मेदारी वे अपने लिए चुन लेते। हाइयेस्ट गुड आफ द हाइयेस्ट नंबर, सर्वे हिताय, सर्वजन सुखाय।

खेलने वाले खिलाड़ियों के भी और खेल देखने वाले दर्शकों के भी। वे हर दिल अज़ीज थे। सागर विश्वविद्यालय नया नया ही खुला था। सागर नगर के सभी खिलाड़ियों ने जो अब तक बेकार बैठे थे, विश्वविद्यालय में प्रवेश ले लिया था। मल्लिक साहब उन सबके हीरो थे। शहर के नवयुवक विश्वविद्यालय के किसी अन्य अध्यापक को जाने या न जाने मल्लिक साहब को जानते ही जानते थे। छोटे मियां हों या लतीफ हों या रामशंकर मिश्रा, मल्लिक साहब के विद्यार्थी ही थे और सह खिलाड़ी भी। जो छात्र अन्य अध्यापकों की कक्षा में ऊधम के लिए बदनाम थे, वे भी मल्लिक साहब की कक्षा में शान्त बैठते। भैया, क्लास में तो हमें कभी कभी ही आना है ग्राउंड पर तो रोज पहुंचना है। वहां मल्लिक साहब के साथ खेलना है, सो किलास में चिमाने रये में ही भलाई है! चिमाने रये में अर्थात् चुप रहने में।

प्रभात कुमार भट्टाचार्य वन देवता का प्रसाद लेकर आकाश नील के तने से लगे खड़े हैं। वन देवता का प्रसाद उनकी पेंट की जेबों में भरा है। झर बेरियों के गद्दर फल जो भी बंधु या बांधवी उस राह से गुजरेगी, वे उसके खट मीठे गद्दर फल खाने को देंगे। वे 'मोरिते चाई न आमि सुंदर भुवने' की तान छेड़े हुए हैं। सत्य देव के टू बी आर नाट टू बी का उत्तर। जब जेब में झर बेरियाँ भरी हों, पूरियाँ तली जा रहीं हों, कौन है जो टू बी आर नाट टू बी के प्रश्नों में उलझेगा। इतने में जान साहब का भोंपू बजा। भोंपू बार-बार ही बज रहा है। जान साहब विश्वविद्यालय के ड्राइवर है। पिकनिक पार्टी के सबसे बुजुर्ग सदस्य। उनकी हांक की उपेक्षा करना संभव नहीं है। खाना बन चुका है—सब वापिस लौटें, अपनी-अपनी पत्तल लेकर पूडियाँ ले, आलू की सब्जी ले। पानी के लिए इतनी बड़ी नदी बह रही है। मल्लिक साहब अपनी पत्तल और अपना दोना लेकर पी.पी.सी. स्थल पर आ गये हैं—पी.पी.सी. स्थल यानी पुरी परोसिंग स्थल। खाना पीना हो चुका है- सब बस में बैठ रहे हैं—मल्लिक साहब सबसे अंत में बस में चढ़ेंगे, कुछ छूट तो नही गया है, कोई रह तो नहीं गया है। उन्हें सबकी बड़ी चिंता है।

उन्होंने मुझे फर्स्ट इयर से बी.ए. अंतिम वर्ष तक पढ़ाया—1948 से 1952 तक। सामान्य अंग्रेजी। हम छात्रों के लिए वे चलते फिरते विश्वकोष थे। यदि कोई बात उन्हें तत्काल पता नहीं होती तो वे जिज्ञासु छात्र से पूछ लेते—हाऊ मच टाइम कैन यू एलाऊ मी टू सेटिसफाई विथ

एन आंसर। विद्यार्थी हक्का बक्का। वह उनके मुंह की ओर देखता। फिर वे स्वयं ही बोलते– बाई टू मारो ईवनिंग। दैट विल बी कम्फर्टेबल फॉर यू एज़ वेल एज़ मी। 1978 में जब मेरा प्रोफेसर के रूप में सागर विश्वविद्यालय में पुनरागमन हुआ तो मैंने एक अनूदित कहानी 'एक और पृथ्वीराज' राजेन्द्र यादव को भेजी 'हंस' के लिए। कहानी राजेन्द्र यादव को बेहद पसंद आयी बिल्कुल उनके खिलंदड़े व्यक्तित्व के अनुरूप थी। मैंने भी उसका अनुवाद नहीं, रूपांतरण किया था। भोपाल की चलती फिरती भाषा में। राजेन्द्र जी ने मुझको लिखा कि हो सके तो कहानीकार हेराल्ड ब्रिग हाउस के संबंध में भी कुछ भेजिये। मैं हिन्दी का प्रोफेसर मैंने लाइब्रेरी में वे सारे कुएँ छान डाले जहाँ-जहाँ मेरे बाँस जा सकते थे पर सब निरर्थक। मुझे याद आया कि विद्यार्थी काल में मल्लिक साहब ऐसे मौकों पर हमारे संकट मोचन हुआ करते थे। एक शाम मैं उनके क्वार्टर जा पहुँचा, अपनी कठिनाई बताई। उन्होंने ठीक वैसे ही मुझसे पूछा–हाऊ मच टाइप कैन यू एलाऊ मी फार सर्चिंग आऊट रीजनेब्ल डिटेल्स। मैं कुछ कहता कि वे स्वयं बोले–बाई टूमारो ईवनिंग। वे और कुछ कहते कि मैंने जोड़ा–दैट विल भी कम्फर्टेब्ल फार यू एज़ वेल एज़ मी। वे हँसे, समझ गये कि मैं 30 साल की समय सरिता पार कर फिर उन्हीं दिनों में पहुँच गया हूँ जब वे मेरी इस तरह की जिज्ञासाओं का समाधान किया करते थे। दूसरे दिन अपने वायदे के अनुसार वे मेरे घर आये थे और तीन चार पन्नों के लिखे विवरण मुझे सौंपते हुए बडे संकोच से बोले–कान्तिकुमार, दिस इज़ आल दैट आई कुड गैदर। पर वह इतना कुछ था कि उसके एक अंश से ही काम चल गया। राजेन्द्र यादव पर मेरा बड़ा रौब पड़ा। राजेन्द्र यादव अंग्रेजी साहित्य के बड़े पढ़ंता थे उन्हें भी हेराल्ड ब्रिग हाऊस के बारे में इतना सब पता नहीं था। उन्होंने मेरी तारीफ की मैं उनसे क्या कहता–स्वाद बढ़ाये घी, बड़ी बहू को नाम।

1982 में मैं विश्वविद्यालयीन परीक्षाओं का मुख्य समन्वयक बना दिया गया। मुझसे बिना पूछे। मित्रों की मेहरबानी। माना जाता जिसके पुण्यों का क्षय हो गया हो वह मुख्य समन्वयक बने। मैं धारवाड़ गया था एक मौखिकी लेने। वहाँ से लौटा तो मुझे कुलसचिव की विज्ञप्ति मिली। यह तो चलो ठीक था मुझे इस तरह के चुनौती वाले कार्यों से डर नहीं लगता। पर मेरी टीम में कौन-कौन थे? सबसे पहिले तो मल्लिक साहब ही। फिर चार दूसरे प्राध्यापक। मल्लिक साहब मेरे गुरु रह चुके थे पर वे अभी तक प्रोफेसर नहीं हो पाये थे। अतः वरिष्ठता क्रम में प्रोफेसरों के नीचे ही थे। मैं जानता था कि औपचारिकताओं के निर्वहन में वे बड़े पक्के हैं–फार्मल टू द फाल्ट की सीमा तक। हे भगवान! जब जब मैं समन्वयक के कक्ष में आऊँगा तो वे उठ खड़े होंगे। पहिले ही दिन अर्जुन के समान मैंने गुरु द्रोणाचार्य के चरणों में नमन किया। वे मेरा मनोभाव समझ गये। नो कान्तिकुमार, डोंट फील एमबरास्ड। वाट इज़ सुप्रीम इज़ द चेयर, नाट द पर्सन। आई शैल बी बर्किंग अंडर द चीफ कोआर्डिनेटर आफ यूनिवर्सिटी एक्जामिनेशन्स, नाट अंडर यू। यह बात मल्लिक साहब के मुंह से ही शोभा देती थी। पर प्यारे लाल, तुम क्या करोगे जब वे

कोई ड्राफ्ट लेकर मेरे अनुमोदन के लिए मेरे संमुख पेश करेंगे? हे देव, मेरी मर्यादा की रक्षा करना। मैंने उनके लिए एक अलग कक्ष की व्यवस्था की, सारी लिखा-पढ़ी के प्रभारी मलिक साहब को बनाया। मेरे संमुख हस्ताक्षरों के लिए जो भी कागज आयेंगे, वे समन्वयक कार्यालय के बाबू द्वारा लायें जायेंगे और वही उन्हें वापिस भी ले जायेगा। कोई तात्कालिकता होगी तो परामर्श के लिए मैं ही गुरुदेव की मेज पर जाऊँगा।

ब्रदर टेरेसा

मल्लिक साहब को ब्रदर टेरेसा का अभिधान उनके छोटे भाई प्रो. शिवरामन् का दिया हुआ है। शिवरामन् ने सागर विश्वविद्यालय से ही भौतिकी में एम.एस-सी. किया था और यहीं वे व्याख्याता हो गये थे। अत्यंत मेधावी, परिहास रसिक, विदग्ध। मल्लिक साहब सेवानिवृत्त होने को हुए तो बड़ी झंझट में पड़ गये। लेखा शाखा, क्रीड़ा विभाग, अंग्रेजी विभाग से तो उन्हें नो ड्यूज मिल गये पर पुस्तकालय ने उन पर तीन साढ़े तीन सौ पुस्तकों के ड्यूज निकाल दिये। पिछले न जाने कितने वर्षों से ली हुई पुस्तकें अभी तक वापिस नहीं की गयी थी- उनमें अंग्रेजी की पुस्तकें तो कम ही थी। वाणिज्य, विधि, रसायन की पुस्तकें ज्यादा थी। सबसे अधिक पुस्तकें हिन्दी की थी। वे भी स्नातक कक्षाओं की पाठ्य पुस्तकें, एक अध्ययन टाइप की। निश्चय ही मल्लिक साहब ने ये पुस्तकें स्वाध्याय के लिए तो ली नहीं होंगी? सर, परीक्षा को एक हफ्ता बचा है, मेरी कोई तैयारी नहीं हुई है। 'केशवदास, एक अध्ययन' कहीं मिल नहीं रही है। मैंने लाइब्रेरी से नो ड्यूज ले लिया है। आप अपने कार्ड पर मुझे हफ्ते भर के लिए पुस्तक इश्यू करवा देते। मल्लिक साहब उस छात्र को नहीं जानते पर उसकी व्यग्रता उसकी आवश्यकता से विचलित हैं। लाइब्रेरी जायेंगे वह पुस्तक अपने कार्ड पर इश्यू करवायेंगे, उस विद्यार्थी को दे देंगे। उन्हें बड़ा भरोसा है कि परीक्षा समाप्त होते ही वह उन्हें या सीधे पुस्तकालय को वह पुस्तक वापिस कर देगा। हफ्ता बीत गया, परीक्षाएँ समाप्त हो गयीं। विद्यार्थी ने पुस्तक वापिस कर ही दी होंगी। मल्लिक साहब न लड़के को जानते, न ही उन्होंने पुस्तकालय में जाकर चैक किया। अब अर्से बाद, वर्षों बाद सेवा निवृत्ति के पहिले उन्हें वापिस न की गयी पुस्तकों की यह सूची मिली है। यदि पुस्तक वापिस नहीं होगी तो पुस्तक का मूल्य तो भरना ही होगा, पुस्तक के मूल्य जितनी राशि का जुर्माना भी भरना होगा। हजारों रुपये। बीस हजार से कुछ ज्यादा ही। मल्लिक साहब यह राशि भरने को तैयार हैं पर उनके कई हितैषी सहयोगियों ने कहा कि ये पुस्तकें ऐसी नहीं है जो अनुपलब्ध हों। प्रोफेसरों के पास प्रकाशक इस तरह की पुस्तकें भेजते रहते हैं—शिवरामन् ने कहा कि मैं प्रो. कान्तिकुमार के पास जाता हूँ उनके पास इनमें से जो पुस्तकें होगी वे उनसे लेकर आता हूँ। वे मेरे पास आये—मैंने हिन्दी की सूची देखी—पूछा, पर हिन्दी की इन पुस्तकों से मल्लिक सर का क्या लेना देना। शिवरामन् बोले—घूरे पर पड़े हुए अनाथ शिशु से मदर टेरेसा को क्या

लेना देना होता है पर वे उसे उठा लाती हैं अपने निर्मल भवन में रखती हैं उसकी परवरिश करती हैं। हमारे ब्रदर मल्लिक साहब यू.टी.डी. के ब्रदर टेरेसा हैं। मैंने अपने पास उपलब्ध हिन्दी की सारी पुस्तकें उन्हें दे दी। शेष पुस्तकें भी प्रकाशकों से मंगवायी पर ब्रदर टेरेसा को फिर भी हजारों रुपये पुस्तकालय को भरने पड़े—नो ड्यूज भरने के लिए।

मल्लिक साहब ने अपने जीवन के 40 से अधिक वर्ष सागर में गुजारे। वे चढ़ते यौवन में सागर आये थे और वृद्ध हुए बिना साठ के होकर सागर से गये। मल्लिक साहब उन लोगों में थे जिनकी उम्र तो बढ़ती है पर वे कभी बूढ़े नहीं होते। वे सागर के साथ एकरस हो गये थे। किसी भी सागरोत्पन्न से ज्यादा सगैरियन। सेवानिवृत्त होकर साठ के हो चुकने पर वे अपने गृहनगर चले गये थे पर वहाँ उनका मन नहीं लगता था। सागर के छात्र, सागर के सहयोगी, यहाँ के खेलकूद के मैदान, यहाँ की लाइब्रेरी, यहाँ की आत्मीयता से भरे हुए दिन उनको हांट करते। उनके छोटे भाई डॉ. शिवरामन् ने मुझे लिखा कि मल्लिक साहब सागर को भूल ही नहीं पाते। हमारे सागर में ऐसा होता था, हम अपने सागर में ऐसा किया करते थे—दिन में चार-छह बार जब तक वे यह न कह लें उनका खाना ही नहीं पचता था। सागर में किसी ने उन्हें अस्वस्थ नहीं देखा। न जुकाम, न खांसी। बुखार तो कतई नहीं। मुझे याद नहीं आता कि उन्होंने कभी कैजुयल लीव ली हो। पर सागर के बिना लगता, जैसे वे स्वयं में न हों, अ-स्वस्थ हों। अपने घर पहुँच कर वे बार-बार सागर को खोजा करते थे। पर सागर हर जगह नहीं होता। सागर की मिट्टी काली होती है। जरा सा पानी पड़ा तो वह आर्द्र हो जाती है, पैरों से चिपक जाती है। सागर विश्वविद्यालय के संस्थापक डॉ. हरीसिंह गौर ने अपनी आत्म कथा 'माई सेवन लाइब्ज' में लिखा है कि सागर की मिट्टी गीली होने पर पैरों से चिपक जाती है और पैरों से छूटती नहीं है। वे भी अपने जीवन के अंतिम वर्षों में सागर लौट आये थे और मिट्टी से चिपक गये थे—उनको यहाँ की मिट्टी ने ऐसा जकड़ा कि वे उसे कभी छुड़ा ही नहीं पाये। नास्टेल्जिया शायद मल्लिक साहब के संदर्भ में सही शब्द नहीं है। वे सागर को मिस करते थे। उनके सागर प्रेम के लिए मुझे सागर की बुंदेली का एक शब्द याद आता है—वे सागर के लिए 'हीड़ते' थे।

मल्लिक साहब मुझसे आठ वर्ष बड़े थे। वे सन् 84 में साठ के हुए पर लगता था कि Retire नहीं Retyre हुए हों। नये ट्यूब टायरों से सम्पन्न। सेवा-निवृत्ति के अवसर पर उन्हें बिदाई देने के लिए अंग्रेजी विभाग में तो तुम जियो हजारों वर्ष हुआ ही, अन्य विभागों में भी हुआ। कौन सा विभाग था जहाँ मल्लिक साहब के हितग्राही न हों। मैंने भी हिन्दी विभाग में एक बिदाई पार्टी का आयोजन किया। कला संकाय के अधिष्ठाता के रूप में नहीं, मल्लिक साहब के पुराने विद्यार्थी के रूप में। मैं कुछ बोलता कि मल्लिक साहब ने ही माइक ले लिया और बोलना शुरू कर दिया। कान्तिकुमार मेरे पुराने छात्र हैं। बहुत पुराने। आज वे मेरे अधिष्ठाता भी हैं। उनको देखकर मुझे एक पुराना प्रसंग याद आ रहा है। एक लैंसनायक का पुत्र सेना मे कर्नल के पद

तक जा पहुँचा। ध्वजारोहण पर वे सलामी ले रहे थे— आइज लेपट करने वालों में उसके पिता भी थे। कर्नल साहब ने कहा, आज मेरे लिए विशेष हर्ष, गर्व और संतोष का दिन है। मैंने जिस टुकड़ी से सलामी ली है उसमें मेरे पिता भी हैं। किसी भी पिता के लिए इससे बढ़ कर गर्व की बात और क्या हो सकती है कि उसका आत्मज उससे आगे निकल जाये। कान्तिकुमार आज डीन के रूप में मुझे माला पहिना रहे हैं। इससे लगता है कि मेरा अध्यापक जीवन सफल हुआ। मैंने कभी जोर से बोलने के लिए उन्हें डाँटा था। आज मैं आशा करता हूँ कि वे उस घटना को भूल जायेंगे। वे भावुक हो रहे थे। भावुक तो मैं भी हो रहा था। मैं अपनी कुर्सी से उठा, परम्परा को तोड़कर मैं उन्हें प्रणाम करने के लिए झुका पर उन्होंने मुझे बीच में ही रोक दिया। 'नो, नो, यूओर प्लेस इज़ नाट देअर, बट हियर'—कहते हुए मुझे अपने हृदय से लगा लिया।

5, विद्यापुरम
मकरोनिया कैम्प
सागर (म.प्र.)—470004

अभी तो

–राजी सेठ

''... पप्पी हियर !''

पियु उचकता है और विमल के दायें गाल पर उतनी-सी पुच्च छोड़ जाता है जितनी-सी उसके नन्हे होंठों की क्षमता है।

''... ऐंड देयर!''

पियु बायें गाल के स्पर्श के लिए उचकना चाहता है पर विमल की गोदी के ऐड़े-बेड़े धरातल के रहते डगमगा जाता है। विमल के लिए पियु का गिरना भी उतना ही पुलक भरा है जितना उसका उचकना।

''व्हेयर इज़ युअर नोज़ ?''

एक किलकारी और उसके नन्हे-नन्हे हाथ अपने नथुनों को छूने चलते हैं।

''ऐंड युअर इयर्स ?''

''ऐंड आईज ?''

''ऐंड लिप्स ?''

''यह नाक, कान, होंठ क्या हिन्दी में नहीं होते ? अंग्रेजी में कुछ नये-निराले होते हैं?'' चीखती, आग उलगती आयी है वृन्दा और बाप-बेटे के बीच की मस्त-व्यस्त भागेदारी को छिन्न-भिन्न कर गयी है।

''स्टॉप इट् वृन्दा,'' विमल दुगनी त्वरा से चीखा। उसकी आवाज की तेज़ी को लगभग पीसता हुआ।

वृन्दा भौंचक्की रह गयी। अप्रत्याशित लगी उसे विमल की उत्तेजना! अब तक तो उसके ऐसे विचारों की एक स्वीकृत परंपरा घर में बन चुकी है। उसकी कर्मभूमि के गाछों पर बौर पड़ चुके हैं। दुनिया जान चुकी है वृन्दा के विचारों की सुगंध...और दिशा!

''इस फ़ेनेटिज़्म का कारण ? जिस चीज़ के पीछे पड़ जाती हो उसकी जान लेकर छोड़ती हो,'' विमल का छिड़ा हुआ छोर अभी झनझनाया हुआ है।– ''आखिर कल को पियु स्कूल जायेगा। तुम क्या समझती हो मैं उसे तुम्हारे किसी घामड़ से विद्यालय में हांक दूँगा। फॉरगेट इट् ! बहुत हो गयी राष्ट्र भाषा की सेवा! तुम्हारे डेडीकेशन की दाद देता आया हूँ, पर इस कीमत पर?...नो, नो, नॉट

मी, तुम भी अब कोई ऐसी खाली नहीं हो। एक बच्चे की ज़िंदगी का जिम्मा तुम पर है... वह भी ऐसा बच्चा।''

जानती है बच्चे की बात को लेकर कोई छूट नहीं मिल सकती। ऐसा उत्सवी बच्चा! शादी के अट्ठारह वर्षों बाद! इतने उपचारों और मनौतियों में से कौन-सी मनौती के अनुग्रह स्वरूप! ढलान से ढुलकते उनके ढांढ़स की दरिद्रता को संभालता।

कितना अटपटा लगा था वृन्दा को उन दिनों। लम्बी-छरहरी देह! खर्चीली-फुर्तीली आदतें। एकाएक शिथिलता-पृथुलता का पारावार टूट पड़ा। अपने को ओढ़ाती-छिपाती फिरती थी वृन्दा, जबकि इच्छा तो यह कि कमनीय किशोरी की तरह नाचे। अब इतने वर्षों बाद जब सब कुछ तय हो चुका था। आदतें जम चुकी थीं। कहीं कोई लचीलापन नहीं था तब नित नये कष्टों और स्पंदनों के बीच देह अपना रंग-रूप बदल रही थी।

विमल एक अपूर्व आनंद से आहत उसे ऐसे देखता था जैसे वृन्दा वृन्दा नहीं, अमोल भाव-राशि को सहेजने वाली मंजूषा हो। अटपटे उभरेपन को भूलकर उसके पेट से कान चिपका लेता। पुलकित होता।– ''लो बस? अब उन्हें अपने आप जवाब मिल गया। अब तुम्हें किसी से डरने की जरूरत नहीं।''

इशारा भावज़ चित्रा और अम्मा के नोकीले नखों वाले भरे-पूरे तरकश से होता था।

वह चुप रहती थी। विमल को आनंदित हो लेने देती थी। पलटकर कहना नहीं चाहती थी कि इन तीर-तुक्कों के तूफ़ान तो तभी थम गये थे जब वह घर से बाहर निकल गयी थी। अपनी चेती चौकी पर। बाहर से उठाकर लायी गयी ख्याति की टोकरी घर में उसका दर्जा बढ़ा गयी थी।

विमल अब और नर्मी से पेश आता था। डरता हुआ। संभल-संभलकर उसे छूता हुआ। कलाई थामने का मन हो तो पोरों की छुअन पर टिका रहे। चूमने की ललक उठे तो कोहनी के ऊपर के गुदाले मांस में उंगलियां धांस ले।

अब तक तो प्रतिपल झुरती रहती थी वृन्दा! प्यार की हिंसा को सहती। किसी प्रच्छन्न आशा से आक्रांत। हर रात नियति को गुहारता-ललकारता, उसकी काया पर टूटता विमल का क्रुद्ध पौरुष. ..और प्यार नाम के प्रहार के नीचे पिसती वृन्दा। विमल उसके भीतर का बित्ता-बित्ता उघाड़ देना चाहता था जब तक किसी कोखमयी के धारणशील तेज़ के सम्मुख वह खुद ही गूंगा-बहरा न हो जाये। पर व्याकुल वृन्दा देखती कि विमल न केवल अपनी ही गुहार के शोर से थक जाता है। उसे भी अनुर्वर होने की कीच में लसेड़ देता है। महीने-के-महीने जब आशा का तिलिस्म टूटता है तो एक-दूसरे से आँख बचाने की निस्तेज़ वास्तविकता का मौसम शुरू हो जाता है।

अब इस संभावना के अवतरण पर विमल को चहक़ते देखकर चुप रह जाती थी वृन्दा। नौ महीने के अल्पायु सुख के सांझे को समेट रखना चाहती थी। वह उसे छेड़ता था। चिढ़ाता था। मुंह में अपना अंगूठा डालकर चुंघते-चुंघते शिशु होने के नाटक को वह उसकी बगल में पड़े-पड़े दोहराया

करता था। रोमांचित-संकुचित वृन्दा स्थिति को संवाद की गलियों में ठेल देना चाहती।

''तुम कितना बदल गये हो न?''

''क्यों नहीं बदलूँगा। तुम क्या अकेली ही यह दुख सहती रही हो?'' तब विमल ने पहली बार...उसकी बगल से उठकर, उसके मुंह के पास अपना मुंह ले जाते हुए, उसी तमिंस्रा में घिरे हुए मन के गलियारों में घूम आने की आज्ञा दी थी, ''तुम्हारा दुख दोहरा न हो इसलिए कभी कहा नहीं था पर सच कहता हूँ...''

तब उसने पहली बार सुनी थी जयी जीवन के ज्योनार के बीचोबीच घर करती हुत-आभा की बात। कितने विस्तार से विमल ने बताया था कि कैसे उसे फ़ैक्टरी की ताम-झाम, ज़मीन-ज़ायदाद के झमेले... नोएडा से यहां तक की भाग-दौड़ एकाएक व्यर्थ लगने लगी थी। यह हताशा कैसे कर्म और पुरुषार्थ के तेज़ को चीथ-चीथ डालती रही। हर रात एक ही दृश्य उसकी आंखों के सामने होता था। अपने ऑफ़िस की टेबल पर बैठे-बैठे या रात को सोते-सोते दिल की धड़कन बंद हो गयी है या किसी वाहन से टकराकर वह मर गया है। उसकी लाश को घेरकर खड़े होने वाले दर्शकों में से वह खुद भी एक दर्शक है। आसपास के उच्चारे को, सुने को, देखे को वह भी ऐसे भोगता है जैसे दूसरे। वह भी औरों की तरह एक बदहवास खोजी की तरह अपनी अलमारियों, दराज़ों और बक्सों पर झपट रहा है। उसे भी उसी एक सीलबंद लिफ़ाफ़े की तलाश है जिसे किसी अनमने दिन भविष्य के अभेद्य अथाह को टटोलते हुए उसने स्वयं ही लिखा होगा। पता नहीं किसके नाम... किस-किस के नाम।

''...मन लहर में हुआ तो लगता था वृन्दा, मैं असली समाजवादी हूं। मेरी धन-दौलत सब दूसरों के नाम है और जब मन ढह जाये तो लगे कितना अभागा हूं। एक गये-गुजरे आदमी के पास भी जो हक़ है, वह मेरे पास नहीं... आय मीन कंटीनूएशन का अधिकार! संसार से उठ जाने पर भी किसी-न-किसी रूप में संसार में बने रहने की विलक्षणता।''

गुज़री बात सुनते भी उस रात वृन्दा का मन तार-तार हो गया था। ऐसी चिहुंक कर उसने करवट ली थी कि विमल खुद ही उसका मन रखने के लिए बोला था, ''वैसे तो यह भी सोचने का एक पिटा-पिटाया ढंग है। क्या जरूरी है कि सब कुछ वंश की नालियों से बहता-बहता आये। मान लो बच्चे होते भी और नालायक निकल जाते...''

वृन्दा चुप रही थी। यह भी नहीं कहा कि 'बहलाओ मत'। कहने का अर्थ नहीं था। वह विमल को बहलाती है तो विमल बहल जाता रहा। कभी पलटकर नहीं पूछा कि क्यों वह उसे दिन-रात उस खूंसट तिब्बती डॉक्टर की काली कठोर गोलियां खाते रहने को विवश करती रहती है। चाय का ऐसा शौकीन विमल और जुबान का स्वाद सा बेमज़ा। प्यास का तड़का इतना सतत। पेट आठों पहर गुड़गुड़ाता रहता है। इन सब असुविधाओं को वह चुपचाप सह लेता है। वह जानती है कि वृन्दा को लेकर वह कितना कातर है। उसके मातृत्व का आधार होने के कारण वृन्दा के

कितना अधीन! कितना अस्त-व्यस्त!

''चलो अच्छा है, दैट वाज़ नाट टू बी,'' बीती बात सुनाते-सुनाते विमल वर्तमान में आ जाता है और उसके उभरे पेट पर दुलार से माथा टिका देता है।

''क्या?''

''यही, द ब्लेम आफ बैरेननेस...गॉड इज़ रियली ग्रेट...''

''हांऽ !, पर यही बात तुम हिन्दी में नहीं कह सकते!'' ऐसे मौक़ों पर टोकने का कोई अवसर छोड़ना नहीं चाहती वृन्दा।

''अच्छा, तो अभी भी सनक सवार है।''

''क्यों, अब क्या हो गया है ?''

''क्यों...क्या कुछ नहीं हुआ? इतनी बड़ी घटना के सामने तो कोई संसार भूल जाता है।''

''अरे, यह भी कोई चादर है क्या, जिसे कोई जब चाहे ओढ़ ले, जब चाहे उतार दे! मेरे बस में है क्या भूल जाना?''

विमल चुप हो गया था पर दरअसल चुप नहीं हुआ था। बात को बहस बनाकर लकीरें गहरी नहीं करना चाहता था। जानता था वृन्दा हठी है। अड़ गयी तो अड़ जायेगी। वैसे भी इन सब सालों में उसके कर्म और चिंतन की एक परिपाटी बन चुकी है। मातृभाषा प्रसार का काम उसके दायित्वों में शामिल है। नये दायित्वों के रहते वह इन सब कामों का क्या करेगी विमल नहीं जानता। अभी तक तो वह उसका अचूक समर्थन करता आया है। इस जुबानी जमा-खर्च में विमल का जाता भी क्या है। वृन्दा खुश रहती है। बची रहती है।

आत्महंता क्षोभ की नारकीय लाचारी। यह था जिसे अब तब उठाये फिरता था विमल। अपनी उतनी नहीं, जितनी वृन्दा की। वह जिस संसार में रहता है उसमें कुल्हाड़े-कुदालियां कितनी भी हों, रोम-रोम को छेदने वाली महीन सुइयां तो नहीं। अम्मा की आंख में हर पल सुलगते आरोप और भावज चित्रा का इठलाता-इतराता श्रेष्ठता भाव। बाल-गोपालों के गू-मूत में लिसड़ी भी वह वृन्दा की सुसंस्कृत स्वच्छता को घायल करने में पूरी तरह सफल हो जाती थी। चालाकी से भरा तौला हुआ वार...वृन्दा के मर्म को लहूलुहान करता....

दफ्तर से लौटने पर वृन्दा उसे बालकनी के कोने पर खड़ी मिलती थी। प्रतीक्षा में! जैसे वह आयेगा तो दिन भर की दलदल में से उसे उचक लेगा। बाहर ले जायेगा। घुमायेगा, फिरायेगा, खिलायेगा, पिलायेगा। कड़वे को भुलवा देने की धीरता-वीरता दिखायेगा।

अब अरसे से बालकनी पर रोज़ खड़ी राह जोहती मूर्ति उसके मन में कोई उत्तेजना पैदा नहीं कर पाती थी। वह उस दृष्टि की अवहेलना करने लगा था जिसमें गाड़ी को गैरेज में रखने की मनाही लिखी होती थी। ऐसा लगता था जैसे दफ्तर से आते ही फिर दफ्तर के लिए चल पड़ना। कब तक? आख़िर कब तक वह इस ज़नाना कुरुक्षेत्र से वृन्दा को उभारने के लिए सिनेमाओं,

नाटकों, रेस्तरांओं में घुमाता फिरे और लाल मिर्च भरे शोरबे से अपने पेट की दीवारों को तबाह करता फिरे।

सोचने बैठता है तो आमूल कृतज्ञ हो आता है। पता नहीं किसका। वह संयोग इतने बाहरी कैसे हो सकते हैं जो अवरुद्ध ऊर्जा के उद्गम को एकाएक खोल दें। उस सड़ांध से मुक्ति मिले जो नियति के वार से अधिक मारक है।

डॉ. नार्वेकर नासिक से आये थे। सपत्नीक। चसनाला जा रहे थे। दुर्घटना के स्थल पर। एंबेसेडर होटल में ठहरे थे। विमल वृन्दा को साथ लेता गया था। जैसे सदा।

''क्यों, आपका कोई संबंधी है वहाँ?'' बातचीत के बीचोबीच वृन्दा ने मूर्खता भरा प्रश्न किया था। विमल संकुचित हुआ था। टेबल के नीचे वृन्दा के पैर को चीथते एक प्रकट नाटकीयता से बोला था, ''संसार के सारे पीड़ित डॉ. नार्वेकर के संबंधी हैं। इतनी बड़ी दुर्घटना हो जाये और डॉक्टर अपने घर में नासिक बैठे रहें। हो ही नहीं सकता। इनकी निष्ठा तो विश्व-व्याप्त है।''

वृन्दा साथ थी तो नार्वेकर दंपत्ति का इतिहास, चर्चा और चौंध का विषय बना था। कौन, कहां, कब की सुई से अतीत उकेरते। वह दंपत्ति भी निस्संतान हैं, यह बात वृन्दा के अहरह उद्वेलन को तादात्म्य के ताल में फेंक गयी। ऐसी उखड़ी, ऐसी आवेगित और उद्विग्न हुई वृन्दा कि प्रश्नों के ढेर लगा दिये। कब अपनी बात कर रही है, कब उनकी, इसका कोई भान नहीं। ऐसा प्रकट, ऐसा घनघोर आवेष्टन, ऐसी भीतर से उद्भूत जिज्ञासाएं कि लगे वर्षों की चीकट धो रही है। किस अछोर अंधेरे में जीती आयी है, इसका एहसास विमल को भी पहली बार हुआ।

एक दौर शुरू हो गया था बातों का। कब-कब, कहाँ-कहाँ, किस-किस कारण से प्रेरित सेवा यात्रा। अनुप्राणित तो हुई पर हताश भी उतनी ही हुई वृन्दा, उस दंपति की देशव्यापी कर्मभूमि के विस्तार का अनुमान लगाकर। अब तक की उसकी जिज्ञासु आदीप्त छवि एकाएक गुम हो गयी थी।

''इतना...कितना बड़ा संसार सामने है। कोई क्या कर सकता है?'' वृन्दा ने पूछा था।

इस भोले असमंजस पर खिलखिलाये थे डॉ. नार्वेकर। ''जिसकी आँख जितनी दूरी तक जाती है, वही उसका संसार है। उसमें ही इतना करने-धरने को है कि...''

होटल से बाहर निकली तो अभिमंत्रित-सी लगी। ''अक्सर बड़ी-बड़ी बातों का कितना छोटा उत्तर होता है न, पर अपने रोने-धोने से मुक्ति मिले तभी न...'' उत्तेजना में उसने विमल की हथेली को जकड़ लिया था। जकड़े रही थी, जैसे जीवन के किसी उत्तर की खोज में पहला सांझा विमल का हो।

तबसे एक नयी वृन्दा जन्मी थी। चौकस! जागी हुई! खोज में। वह पुल कहाँ है जो उसकी क्षमता और बाहरी ज़रूरतों के बीच बन सकता है। सार्थक रूप से।

शुरुआत उसने की सिविल अस्पताल के पुनर्स्थापन विभाग से। टूटे-फूटे, अपंग, आहतों की सेवा। नगर-कल्याण संस्थाओं को खखोलती फिरी। प्रौढ़ शिक्षा प्रसार में पगी रही। अविकसित बच्चों की देखभाल में कुछ समय लगाया और अंततः एक निष्ठाहीन धनाढ्य द्वारा शुरू किये गये दम तोड़ते स्कूल में आ टिकी। धुन यह रही कि यह अपनी भाषा के माध्यम से देश का संस्कार-सम्मत स्कूल होगा।

ऐसा कुछ करते वृन्दा के अपने पैतृक संस्कार भी उसमें शामिल हो गये थे। स्वतंत्रता सेनानियों की पीढ़ी जो जीवित होते हुए भी स्मृति तक से परे हो गयी थी, किसी न किसी रूप में वृन्दा में जीवित थी। पिता असमय वृद्ध होकर मोहभ्रम और अवहेलना के आघातों से छलनी हो गये, पर अपना वांछित अदृश्य वृन्दा के लिए छोड़ गये। ऐसा अपूर्व उत्साह, ऐसी अकंप निष्ठा, लगा अब तक वृन्दा सुप्त थी, अचेत नहीं थी। उसकी अकर्मण्यता दिशाहीनता का भौंचक्कापन भर था।

पहली लड़ाई उसने विमल से ही ठानी थी। वही निकट से निकटतम पड़ता था। वैसे भी विचारों से वह वृन्दा से परे पड़ता था। समाज-सेवा नाम की किसी अमूर्त और आत्ममुग्ध क्रिया के प्रति पूरी तरह उदासीन। ''इंसान के बनने में मातृभाषा का कोई स्थान है, यह मुद्दा ही तुम्हें कोई विचारणीय नहीं लगता। टैगोर जीवन भर अपनी भाषा में लिखने का हठ ठाने रहे पर तुम्हारे मन में उनका सम्मान विदेशी पुरस्कार के कारण है। कभी सुना है ऐसा, कि आत्मगौरव भी इंसान को अपने से परे जाकर अर्जित करना पड़े?''

''तुम समझती नहीं हो, इस कांपटीटिव दुनिया में मुकाबला एक भाषा का दूसरी भाषा से उतना नहीं है जितना एक तरह की ट्रेनिंग का दूसरी तरह की ट्रेनिंग से है। एक पूरे ढांचे से...''

''तुम भी अपने पब्लिक स्कूल चोंचलों का क्या करो।''

विमल को चोट कम लगती है, अचंभा ज्यादा होता है। यह वाली वृन्दा कहां से निकल आयी। कहां से आयी ऐसी निष्ठा और लगन। हिन्दी-हिन्दी का कीर्तन उसकी रगों में उद्विग्न रहता है। रास्ते और नुक्ते ढूंढ़ती रहती है। स्कूल-कॉलेजों के आचार्यों से मिलती है। दफ्तरों, सभाओं में जाती है। डाकखानों के काउंटर से घंटों लगी खड़ी लोगों को हिन्दी में तार लिखने की सुविधाएं समझाती है। क्लबों के, प्लेटफार्मों के लिए पोस्टर बनवाती है। परिचित-अपरिचित गृहस्थियों के बीच अपने को अवस्थित कर लेती है और ऐसी जगह पर अंगुली रखती है जो असंदिग्ध है, ''अपनी परंपरा को बच्चे दूसरों की भाषा में कैसे समझ पायेंगे? सोचिए ज़रा ऋग्वेद की ऋचाएँ अंग्रेज़ी में... मानस की चौपाइयाँ अनुवादों में। वह सात्त्विकता की भावना कहां से आयेगी। किसी लय को जो चीज़ पूरा करती है, वह आधी तो पहले से हमारे मन में बसी होती है।

यह सब बातें वह ऐसी विकट चिंता से कहती है जैसे आज रात की रोटी-पानी जुटाने का सवाल सामने हो।

अपने भाइयों को अब वह हिन्दी में पत्र लिखती है। नाम की तख़्ती उसने हिन्दी में खुदवायी थी। अपने नाम के कार्ड उसने हिन्दी में छपवाये थे। टेलीफ़ोन के नंबरों की उसकी डायरी अलग और हिन्दी में बनी थी। गृह प्रवेश के आमंत्रण पत्र हिन्दी में छपे थे। घर का नाम 'सुकृति' रखा गया था। फोन पर 'हेलो' कहने की बजाय वह 'जी कहिए' कहती थी और अपनी मौलिकता पर मुग्ध होती थी। आगंतुकों को 'नमस्कार' कहती थी और विमल के मुंह से कभी 'डार्लिंग' निकल जाने पर तड़प उठती।

एक बार डाकखाने में किसी विनोदी अधेड़ ने कटाक्ष किया था, ''यह बिना ताज की नंबरदारी। यह भी तो एक ठरक है, सत्ता को हाथ में लेने का। उन मामलों में सिर देने का, जो सरकार ने साफ़ तरीके से अपने तहत कर रखे हैं।''

घर आकर बहुत बिगड़ी थी, ''उन्हें नहीं मालूम, जब सरकार हार जाती है तो जनमत बनाना पड़ता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यदि हर बच्चा अनिवार्य रूप से राष्ट्रभाषा पढ़ रहा होता तो चालीस साल का हर व्यक्ति अपनी भाषा में दीक्षित होता, उसे लादने की ज़रूरत क्या है। जिस प्रवाह में लोग नहा रहे हैं बस उसमें रंग डाल दो। अभी तो मिसाल सामने है। चालीस साल में कैसे एक बिलकुल नयी और बेगानी भाषा सीख ली गयी।''

''सौ साल के कोलोनियल डॉमिनेशन को भूल जाती हो वृन्दा। हाउ कम यू फारगेट हिस्टॉरिकल फैक्टर्स।''

ऐसी बातों से भड़कती है वृन्दा, ''हमारा अपना आत्मगौरव ही मिट्टी है। योग साधना सीखेंगे अंग्रेजी किताबों से। वेद पढ़ेंगे जर्मन सूत्रों से। भाषा को खुद ही बाधा बना लिया। अरे, इंसान जिस भाषा में सोचता है, उसी में लिखने लगे। कितना आसान है सब कुछ। अंग्रेजी भी क्या आसानी से सीख ली गयी थी? उसके पीछे कितने दशकों की मेहनत और आत्म-प्रेरणा है। ज़्यादा सरल रास्ते को अपनाने में यदि इच्छा, प्रेरणा कम है तो व्याधि कहीं और...हैं।''

यह बहसें लंबी चल सकती हैं, नहीं चलती। विमल अपने पक्ष को आसानी से सिद्ध कर सकता है। नहीं करता। अनंत बातें हैं जो अंग्रेजी के अंतर्राष्ट्रीय चरित्र के हक में हैं, और विमल का उसमें घना विश्वास है। पर विमल कुछ भी नहीं बोलता। वृन्दा की दिशावान व्यस्तता का खामोश साक्षी बना रहता है। जानबूझकर। वह बहलती है, बहले।

विमल से वह उठते-बैठते इन्हीं बातों पर उलझती है। वह जो हर घड़ी मन को आक्रांत किये रहता है, संवाद का आधार बनता है, ''सोचकर देखो, कभी इस देश में संस्कृत भाषा बोली जाती थी?''

विमल हँस देता है, उत्तर नहीं देता। देता तो कहना चाहता कि ''सुबह यह जो 8-10 मिनट का न्यूज आइटम होता है संस्कृत में, वही इंटालरेबल होता है तो यह हर समय का बोलना...'' वैसे भी यदि बोलता तो वृन्दा उस अकेले को पूरी कक्षा समझ लेती और धिक्कारने बैठ जाती।

दफ्तर से आता है तो वृन्दा को ब्यौरा देने की जल्दी होती है, ''आज की उपलब्धि पता है? जितने लोग तार देने आये हमने हिन्दी में लिखवाये। शाम तक दो सौ छियानवे हो गये थे। बस, चार और आ जाते...''

फिर क्या हो जाता? मैसेज में कोई फ़र्क पड़ता? पर यह बात वह वृन्दा को नहीं कहता, बल्कि, ''मैं अगर राष्ट्रपति होता तो तुम्हें चार के बिना भी पद्मश्री दे देता।''

''और तुम क्या करोगे? अंधा बाटें रेवड़ी, फिर-फिर अपने को दे। अब मालूम है हमारी क्या योजना है, दुकानों के पट्टे...''

विमल सुनता नहीं। वृन्दा का दप-दप करता अपरास्त चेहरा देखता है। ललचाई आंखों से। अपने को भूलकर कितना अरुणायी-अंकुरायी है वृन्दा। यह दृश्य किसी और तरह के लालच में झोंक देता है विमल को। एक नयी-सी सरसराहट मन में पसरने लगती है...भीनी-भीनी। अपने को खोलती हुई। किसी अपेक्षा की नोक पर हर समय कसी जाती देह थरथराने लगती है। अपने आप! ऐसी समर्पित पर संचित वृन्दा अच्छी लगती है विमल को। कम-से-कम यह तो नहीं लगता कि क्षोभ, घुटन या अभाव की चीकट उतारने के लिए या वंशवेल की खाद बनाने के लिए वह वृन्दा को बिस्तर में लेकर जाता है। अब तो वृन्दा की देह चहकती है! उत्तर मांगती है, और वह इन सुखों को भोगता है, गुपचुप, गूंगे को गुड़ के स्वाद की तरह।

और अब!...

पियु के 'नोज', 'इयर्स', 'आइज' के विवरण को छोड़कर विमल ने फेनेटिज़्म पर छोटा-मोटा भाषण दे डाला था। वह भी सबके सामने। आंगन में बैठे! खास तो चित्रा भाभी की उपस्थिति में जो परिवार की संपत्ति को एक नया उत्तराधिकारी मिल जाने से एक नयी किस्म की प्रचंडता में पारंगत होती जा रही थीं।

''क्यों, तुम ऐसे आंगन में?'' वह आहत थी ही विमल के साथ मिले पहले ही एकांत में बिफर गयी। छलछला आयी। विमल की ऐसी कठोर मुखरता अकल्पनीय थी।

''क्यों क्या ! तुम्हें अभी से रोका नहीं जायेगा तो तुम वही करोगी जो बिन्नी दीदी की बेटी के दाखिले के समय किया था।''

''तब तो तुम कुछ नहीं बोले थे?''

''हां, नहीं बोला था। तब मेरे सामने तुम थीं।'' 'तुम' शब्द पर उसने जोर दिया था।

''और अब?''

''अब पीयूष! तुम जानती हो पीयूष के प्रतियोगी कौन होंगे? किन लोगों से इसका सामना होगा? एक-दो स्टूडेंट नहीं, पूरी कौम है... व्हेल्मस की। दून की। सिंधियाज की। एक सुपीरियर ट्रेडीशन है जिसे तुम बातों और नारों से नहीं भुगता सकतीं। तुम क्या चाहती हो बेचारों की लाइन

में मेरा बेटा पूंछ की तरह नाक पोंछता खड़ा रहे। भूल जाओ वह सब बातें। प्रचार एक चीज़ है, व्यवहार दूसरी चीज़। मैं देखते-सुनते अपने पैरों पर कुल्हाड़ी नहीं मार सकता। ही हैज टू बी ट्रेंड फार हिज वर्ल्ड एंड नॉट युअर वर्ल्ड...''

वृन्दा चौंकी। यह 'हिज वर्ल्ड' कौन-सा है जहाँ पनपता कुछ नहीं। सिखाया जाता है। थोपा जाता है। जड़ों को रंगीन पानी से सींचा जाता है, शिराएं फिर उसी रंग की उगती है। सहज संस्कार को उकसाया नहीं जाता। लोहे के खोल में जकड़कर अनुशासित कर दिया जाता है केवल।

इसी 'हिज वर्ल्ड' से तो लड़ती आयी है। उसके ठीक सामने एक दूसरा संसार खड़ा करके। विकल्प देकर। प्रति-संसार की रचना करके। पर अब क्या ऐसा भी होगा कि अपने ही घर में... अपने ही बच्चे को लेकर... अपनी ही अदालत में वह अभियुक्त बनेगी, निर्णायक नहीं। उसके भाषणों के श्रोता उसके विरुद्ध गवाहियां देंगे। पहले ही व्यावहारिक प्रयोग में वह हारेगी इस तरह?

और विमल? परितुष्ट भाव से सब सरोकारों को उसके साथ झेलता विमल?
अभी तक तो वह उसका समर्थन ही नहीं करता रहा, उसे प्रोत्साहन भी देता रहा है।

''ऐसे अड़ने का लाभ? जैसे तुम्हें पता नहीं कि आज तक मैं इन्हीं सब बातों के विरुद्ध लड़ती आयी हूं।''

''इसका मतलब है तुम्हें अपनी नाक की चिंता है, पियु के भविष्य की नहीं!''

''पियु का भविष्य संकट में कैसे पड़ जाता है ?''

''पड़ जाता है। अल्टीमेटली उसे कहाँ पहुँचना है, तुम अच्छी तरह जानती हो। मैं पहले भी कह चुका हूं सिधियाज का, स्टीफंस का, जेवियर्स का स्टूडेंट बिना सीढ़ी लगाये आई. ए. एस. तक जा पहुंचता है। नींव ही ऐसी डाली जाती है।''

वृन्दा चिढ़ गयी, ''ऐसे तो कोई ढंग का आदमी पहल ही नहीं करेगा। कुछ लोगों के बच्चे सदा एक तरह से स्कूलों में, कुछ के दूसरी तरह के स्कूलों में पढ़ते रहेंगे, और यह भेद कभी नहीं मिटेगा। बच्चों में भी वर्ग चलते चले जायेंगे। किसी भी पीढ़ी में यह स्थिति नहीं आ पायेगी कि...''

''अच्छा बस! बस!'' विमल कड़का, ''मुझे पियु की बलि नहीं देना है। इस बारे में मैं तुमसे उलझना नहीं चाहता। टेक इट ऐज़ ए क्लोज़्ड चैप्टर। तुम भी इन ऊट-पटांग बातों में लगी न होतीं तो यही फ़ैसला करतीं। पियु को लेकर खुशी-खुशी इन्हीं स्कूलों में जातीं।''

निरुत्तर-सी ही हुई वृन्दा श्रीहीन। प्रश्नों की भीड़ में लगभग विमूढ़। कॉनवेंट में दौड़े जायेंगे लोग, क्योंकि प्रतिष्ठा का प्रश्न है। प्रतियोगिता का प्रश्न है। स्तरीयता का प्रश्न है। श्रेष्ठता का प्रश्न है। कितने सारे लाभों और लोभों के एक साथ ठोस होकर एक 'सुपीरियर ट्रेडीशन' बनाने का प्रश्न है। किस-किसके, किस-किस स्तर पर लड़ सकती है वृन्दा। यह रवैया एक-दो जगह नहीं, घर-घर में है। पूरे देश में। सभी लोग एक ही रंग में रंगे हुए हैं। तभी न यह एक सामूहिक ताकत बनी हुई है। एक ऋतु की तरह परिव्याप्त है। जो इस आच्छादन से बाहर है, वह ऐसे हैं जैसे किसी

मशीन में फिट किया गया कोई उल्टा पुर्जा। मशीन चलेगी तो टूटेगा वही पुर्जा। टूटेगी सिर्फ़ वही। टूटेगा सिर्फ़ पियु।

उफ़, कितनी अछोर व्याधि है। अपनी लड़ाई की फुसफुसाहट को भी पहली बार देख सकी वृन्दा। तिस पर विमल के कथन मन की झील में कंकड़ डाल गये। छींटे छलके और भरपूर अपने पर पड़े। अदबदाकर सारे छोर धरती पर रख दिये वृन्दा ने...

एक अंधड़-सा मन में चलता है। वह नहीं जानती, वह अंततः क्या करेगी ? मौक़ा आने पर क्या इतना ही हठ करेगी?... कर पायेगी ? क्यों उसके अपने ही संकल्पों की फूंक निकलती जा रही है। ध्यान है कि कहीं भी दिशारत नहीं होता।

कहां जायेगा पियु ? बाल निकेतन ?... शारदा मंदिर ?... केंद्रीय विद्यालय ?... राजकीय माध्यमिक स्कूल ?... डी.ए.वी. ? देवसमाज स्कूल ?...

उफ़! क्यों यह सारे स्कूल पब्लिक स्कूल्स, टाइनी टॉट्स, रॉकहिल स्कूल, स्टेपिंग स्टोन्स जैसे नामों जैसे मोहक और कल्पना-कोमल नहीं हो जाते। मुकाबले में क्यों कुछ ऐसा आकर्षक जैसा नहीं लगता? क्यों एक प्रकार का दैत्य-सा लिथड़ता आता है अपने नामों में...?

उफ़ ! यह सब वह क्या सोच रही है। इस परिव्याप्त मानसिकता ने क्या हमारी ध्वनियों और गूंजों को भी बदल दिया है। वह भी हमारे मन में घुसकर ! यह हीनता उसके मन में कहां से आयी? क्या उसका अपना भी निर्द्वंद्व नहीं है चित्त, पियु के मामले में ? क्या विमल सच कहता है कि इन बातों में न लगी होती तो पियु को लेकर खुशी-खुशी किसी मौंटेसरी में जाती और इसे जीवन का छोटा-मोटा उत्सव मानती।

अब तो मन में खटास पड़ी है। न दूध-दूध है, न दही-दही। बिथरी-बिथरी-सी मानसिकता है। विमल में लड़ाई एक बात है। अपने आपसे दूसरी। दोनों ही छोर उसके मन में प्रज्वलित हैं। जो कुछ उसके चारों ओर फैला है वह भी उसी की शिकार है, अपनी निष्ठा, सदाशयता के बावजूद। यह कमजोरी चकाचौंध के समकक्ष अपने को रख देने के कारण है या अपने ही भीतर कोई बुनियादी गलती है। क्यों अपनी ही भाषा और संस्कार को अपनाते शर्म का एहसास मन में जागता है। मौक़ा आने पर जब वृन्दा ही नहीं बची तो विमल से उलाहना किस मुंह से करे...।

विद्यालय जाने के लिए कपड़े पहने थे, फिर उतार दिये। ऐसा इस बीच वह दूसरी या तीसरी बार कर रही है। तत्परता गायब है विद्यालय जाने की। अपने छूटे हुए कामों को देखने-भालने की।

यों तो वह कब से वहां जा नहीं रही थी। पहले गर्भ की गुहारों के बीच होना, बाद में पियु के साथ के अलभ्य सुख को घुटनों पर बिठाकर भोगना। सब कुछ वैसे ही गौण होता गया था। मिसेज आचार्या के रहते उतना दबाव भी नहीं रह गया था। वह अब तैयार हो गयी थीं। शुरू-शुरू में बहुत उखड़ी रहती थीं। लड़की ब्याह गयी थी और अपना परित्यक्ता होना अब उन्हें उतना बीहड़ नहीं लगता था। वृन्दा के लिए अटूट श्रृद्धा-भाव उनके मन में था। उसी की तरह जुटी रहती थीं।

पर अब एक दूसरी तरह की आड़ मन में है। कुटिल और पेचीदा ! ऐसी अनिष्ठा के मन में रहते उस चारदीवारी में जाना उसे भीतर से अधार्मिक जैसा लग रहा है। कलुषित हो जायेगा वातावरण चाहे कोई जान पाये या न जान पाये। अच्छा हुआ, इन पौधों की नीवें उसने तब डाली थीं जब वह निस्वार्थ थी। इन 10-11 वर्षों में तो उसके बोए पौधे भी उसर आये हैं। क्यों वहां जाये। उन्हें अछूता छोड़ क्यों न दे?

मन दुखता है तो दिलासों के तकिए तलाशती है। मान क्यों न ले कि पियु उसका नहीं, किसी और का बच्चा है। किसी दूसरे नागरिक का। किसी दूसरे के परिवार का, जो अपने बच्चे को कॉनवेंट में पढ़ाने का इच्छुक ही नहीं, उत्साही भी है, क्योंकि यह सब उनकी स्टेट्स-संहिता का जरूरी उपादान है। उनकी आभिजात्य सामाजिकता का अपरिहार्य हिस्सा। वैसे भी एक पियु के वहां पढ़ने या न पढ़ने से समस्या सुलझ तो नहीं जाने वाली।

हिम्मत करके पहुंची तो मिसेज आचार्या ने टाइमटेबल सामने बिछा दिया। उन्हें विश्वास था कि वृन्दा विद्यालय में लौटी है तो पहले की तरह अपने लिए भाषा और नागरिकशास्त्र की कक्षाओं का चुनाव करेगी, पर वृन्दा अनमनी-सी बनी रही।

''नहीं, अभी नहीं। आप तो हर तरह से मुझसे अच्छी तरह चला रही हैं सारा काम!''

''प्रेरणा किसकी है। जिनके उद्गम स्वच्छ हैं, वहां पानी भी शुद्ध बहेगा। इसका श्रेय तो आपको है।''

वृन्दा कांप गयी, ''मेरा क्यों, आपकी अपनी लगन और निष्ठा का क्या कम है? मैं तो वैसे भी अकुशल होती जा रही हूँ।''

''ऐसा न कहें!'' गद्गद मिसेज आचार्या कह रही थीं, ''मैंने तो आपका उदाहरण सामने रख लिया और सारे दुख भूल गयी। एक ही उद्देश्य...''

''हो सका तो इस बार आपका वेतन बढ़ाने का प्रस्ताव न्यास के सामने रखेंगे।'' वृन्दा ने बात काटने की जल्दी की।

''आपके रहते मुझे कुछ सोचने की ज़रूरत नहीं। मैं कल स्टाफ़ रूम में कह रही थी कि आपके जैसे 10-12 लोग भी...''

वृन्दा सुन नहीं रही, छीज रही है। बस चलता तो मिसेज आचार्या के होंठों पर हथेली रख लेती। पर वह बोल रही हैं तो यह तो पता लग गया है कि वह कितनी अनिष्ठावान, कितनी अकुशल हो गयी है। पर मिसेज आचार्या तो तैयार हैं। निष्ठा और उत्साह से भरी।

मन को मथती घुड़दौड़ कुछ शांत हुई। वृन्दा लपककर उन्हीं की आड़ में खड़ी हो गयी थी। उनकी मनस-काया की छांह में। अपने क्षुद्र लगते स्वत्व को ढंकती हुई। कोई तो तैयार है यदि वृन्दा नहीं भी।

“आपकी तबीयत तो ठीक है न ?” मिसेज आचार्या ने उसके चेहरे को देखकर कहा।

“हांऽां, हाँ, ठीक है! ऐसे ही सोच रही थी। इधर पाठ्यक्रम में कुछ और बातें बढ़ायी जायें।”

“कौन-कौन-सी? हां, बताइए!” तत्परता से मिसेज आचार्या ने काग़ज़-कलम संभाला तो वृन्दा शिथिल हो गयी।

कौन-कौन-सी,... यह क्या वृन्दा जानती है? कौन-सी वह शुद्ध-बुद्ध बातें होंगी जो अपनी धुरी की सीध में ऊपर उठने की प्रेरणा देगी और ऐसा करते कोई अपमानित महसूस नहीं करेगा। कौन-कौन सी?

अभी तो वृन्दा का अपना मन धुआँ-धुआँ है।

वह दिन! वह दिन वृन्दा जानती है जल्दी ही आने को है, जिस दिन घर में चलती सब चर्चाओं का समापन हो जायेगा। पियु के दाख़िले की भाग-दौड़ कब से चल रही है और वह है कि बचती फिर रही है। डोनेशन, सिफ़ारिश, लिखित और मौखिकी, फ़ोन की घंटियां, विमल की तनाव-सघन मुद्रा। लंबी कतारों में पियु के पीछे रह जाने के भय से आक्रांत उसकी मनःस्थिति। जो भी करता है विमल, खुद करता है।

वह जानती है विमल बचाव भरा खेल-खेल रहा है। ऐसा न हो वृन्दा अड़ जाये, उत्पात करे, राष्ट्रभाषा का कीर्तन करते-करते अपने ही स्कूल में पियु के भविष्य को टांक आये।

सांप के दर्शन से जैसे कोई स्तब्ध हो जाता हो, ऐसी स्तब्ध लाचार बैठी है वृन्दा। पियु को अपने मन के विद्यालय में भेजना भी चाहती है, नहीं भी चाहती। पियु को अपना विस्तार मानती भी है, नहीं भी मानती। वह अपना भी है, पराया भी। दिमाग गड्डमड्ड रहता है तो विमल का छिपाव सुख देता है। आहत नहीं करता, जैसे वह निर्णय लेने की किसी आत्महंता ज़िम्मेवारी से बच गयी हो। किसी सदय हाथ ने उसकी बांह पकड़कर गिरती दीवार के नीचे से खींच लिया है, चाहे उस आघात से वह गूंगी और लुंज-पुंज क्यों न हो जाये।

एकदम सहज सरसरे भाव से विमल ने बताया था कि ‘टॉडलर्स’ में पियु का दाखिला हो गया है।

वह चुप रही। न बोली, न बोलने की चेष्टा में होना प्रकट किया। उस चुप्पी के दंश को कितना जातना है विमल। एक सप्ताह पहले विमल ने उसे पियु के मौखिक के लिए साथ चलने को कहा था, पर वह उदासीन रही थी। उसकी उदासीनता विमल को दुख दे या न दे, स्वयं को संतोष जरूर देती है।

“जानती हो वहां क्या हुआ ?” विमल ने उसका घनेरा-सा चेहरा देखकर कहा। प्रिंसिपल ने

मेरे सफ़ेद बाल देखकर पूछा, ''क्या आपका पोता है?'' अच्छा, तुम बताओ, ''क्या मैं दादा जैसा लगता हूँ?''

ऐसा कुछ करे उसके पतले होंठों के बीच के ऐड़े-बेड़े दांतों का पथरायापन भी जैसे हंस दिया हो। प्रत्युत्तर में वह हंसी, पर विमल का मन रखने को...

''ए ग्रेट डे...इजंट इट ? कभी सोचा था हमारे जीवन में यह दिन भी आयेगा?'' लड़ियाते हुए विमल ने अपनी पसरती बांह में उसको समेटने की कोशिश की।

न झटकारने का साहस है वृन्दा में। न इस अद्वितीय घड़ी की अभ्यर्थना करने का बल। और कुछ नहीं हो सका तो उसने अपने को विमल की बांह के भार से घायल हो जाने दिया।

क्या वह जानता है कि वह कितना-कितना थकी हुई है ? भीतर से कितनी आहत-तिरस्कृत!

घर में सघन-सी हलचल, छोटे से उत्सव के जैसी। आज पियु पहले दिन स्कूल जायेगा। चमाचम जूते, कलफ़ से अकड़ी साफ़ यूनिफ़ार्म! यह कब सिलवाई गयी उसे नहीं पता। विमल ने कितनी दूर तक उसके आहत दर्प की रक्षा की है। लकदक पियु को देखते वह अस्त-व्यस्त हो आयी। आर्त और आप्लावित एक साथ। मन अधीर कि पियु के इस छोटे से उत्सव में वह भी हिस्सा लेती जैसे विमल ले रहा है। जैसे पियु की दादी, जैसे पियु की ताई, जैसे पियु के चचेरे भाई-बहन, पर अपने ही सिरजे खोल से खुद घायल है वृन्दा।

विमल के तैयार होते तक पियु आंगन के बीचोबीच नाच रहा है और दलित-द्रवित वृन्दा दरवाज़े से टिककर खड़ी है।

''नाऊ कम ऑन... डोंट पनिश योरसेल्फ़...! ... कम विद मी।...'' वह थरथरा गयी। पीठ पर विमल का हथेली भर स्पर्श उसके भीतर की कितनी ही परतों को झिंझोड़ गया। बिखर गयी। रोकर जी हल्का हुआ।''

''चलोगी?'' विमल की आवाज़ में आंख बचाती-सी वत्सलता है।

''चलूं क्या?''

''ज़रूर चलो, तुम्हें बहुत अच्छा लगेगा। व्हाय डिप्राइव युअरसेल्फ...''

''हंऽऽम! नहीं तुम जाओ!'' इसके बाद विमल ने आग्रह नहीं किया। वृन्दा ने पियु को चूमा। कंधे पर बैग लटकाया। नाश्ते का डिब्बा थमाया। दरवाजे तक आकर फिर चूमा। हाथ हिलाया और कार के स्टार्ट होने तक वहीं खड़ी रही।

गाड़ी चल दी तो वह भीतर नहीं गयी। लपकती हुई विद्यालय की ओर चलती चली गयी। पैदल चलने से भीतर का क्षोभ दिशावान होता गया।

प्रधानाचार्य के कमरे में घुसी तो चपरासी मेज़-कुर्सियाँ झाड़ रहा था। उसका ध्यान वहाँ नहीं

था। उस निःशब्द फैलाव में टेबल पर दोनों हाथ टिकाये वह खोई खड़ी थी...

क्या किया जा सकता है इस हीनता के विरुद्ध। भाषा नाम के खोल में छिपी इस दीनता के विरुद्ध। अभी तो अपने भी उपकरण ढीले-ढाले हैं, अपनी भी निष्ठा पोली-पोची। पहले इस व्याधि की जड़ को तो छू सके वृन्दा...सकें सब।

एम-16, साकेत नगर
नई दिल्ली- 110017

अंधेरे उजाले

–प्रभाशंकर द्विवेदी

ये उसके जीवन का अविस्मरणीय क्षण था, जब उसने अपना राज्य लोक सेवा आयोग के पी. सी. एस. परीक्षा का परिणाम प्राप्त किया। ये विरलों के साथ ही होता है कि कोई अपना सपना पा सके। कारूण्य आज उन्हीं विरलों की श्रेणी में था। बचपन से आज तक उसने सिर्फ एक ही स्वप्न देखा - पुलिस अधिकारी बनने का, जो उसके सामने सच होने जा रहा था। वह इस परीक्षा में बड़े अच्छे अंकों के साथ सफल हुआ था, जिसके कारण वह श्रेणी के किसी भी पद का चुनाव कर सकता था। परंतु, चुनने की बात ही कहाँ थी ? बनना तो बस वही था - डी. एस.पी.। तमाम सारी औपचारिकताओं को पूरा करने के पश्चात् कारूण्य कमलाकर ट्रेनिंग के लिये गये, और जब लौट कर घर आये तो पूरा गाँव जैसे उनकी खुशी में सराबोर था। आखिर हो भी क्यूँ ना, गाँव में जो एक अधिकारी हो गया था। कारूण्य की इस खुशी का सबसे बड़ा भागीदार उसका बड़ा भाई लवलेश था, जो बचपन से ही पढ़ने-लिखने में कमजोर पर बोलने और लड़ने में सबसे आगे था। इन दोनों भाइयों में शुरू से ही अंतर बना हुआ था। कारूण्य लवलेश से केवल डेढ़ साल छोटा था, जिस कारण वे साथ-साथ पढ़े, खेले और बढ़े। दोनों के विचारों में बड़ा लम्बा फासला था। पता नहीं ये कैसे होता है? जब हमें ये सिखाया जाता है कि बच्चे का प्रथम विद्यालय उसका परिवार होता है, तथा दूसरा उसका समाज, तो फिर ये दोनों बच्चे तो एक ही परिवार और एक ही समाज, अपितु एक ही विद्यालय व एक ही अध्यापक से पढ़े परंतु ये अंतर कहाँ से आया? पता नहीं। कारूण्य अपनी हर बात में देश-भक्ति एवं ईमानदारी की बातें प्रस्तुत करता जबकि बड़े भाई का ध्यान हमेशा पैसे एवं उसके पैदा होने की जड़ों पर रहता। दोनों भाई एक ही सिनेमा देखते, एक ईमानदार पुलिस अधिकारी की शहादत पर गर्व करता और दूसरा अंत में मारे गये स्मगलर के पक्ष में रहता एवं उसक द्वारा की गयी त्रुटियों की व्याख्या करते हुये कहता कि यदि वह वैसा नहीं किया होता तो उसे कोई पुलिस वाला छू भी नहीं पाता। इस तरह अलग-अलग विचारों एवं समान पालन-पोषण पर विकसित हुए इन दो वृक्षों में अब फल लगने आरंभ हो रहे थे।

ईमानदारी के प्रशंसक को ईश्वर ने मौका पहले दिया। सबके मस्तक को फक्र से ऊँचा करता हुआ वह प्रशिक्षण के लिये गया और वहाँ से अपना नियुक्ति पत्र लेकर पन्द्रह दिन के

अवकाश पर घर लौटा।

दूर-दूर के रिश्ते-नातेदार भी मिलने के लिये आ रहे थे, अपने धुँधले रिश्तों की याद दिलाने को। कोई-कोई तो मजाक में ही सही, बोल भी देता, ''अब हमें भूल नहीं जाना बेटा, ऊँचाई पर पहुँच कर लोग नीचे देखना बंद कर देते हैं।'' उन्हीं में से कोई कारूण्य के पक्ष से बोल देता, ''अरे! अपना कारूण्य न तो ऐसा था न होगा, आदमी, संस्कार को जीता है।''

सब, इस तरह से मिल रहे थे, कि मानो ये रिश्ता, टूटने को पुनर्जीवित नहीं हो रहा अब तो इसमें केवल प्रगाढ़ता ही आनी है।

प्रशिक्षण से लौटे कारूण्य को अभी चौबीस घंटे भी नहीं बीते थे, कि विवाह के प्रस्तावक आने शुरू हो गये, जैसे ये लोग बड़ी व्याकुलता से कारूण्य के लौटने की प्रतीक्षा में ही थे। सबसे पहले, जैसा कि ज्यादातर जगहों पर होता है, लड़के के मामा ने अपना अधिकार जमाने का पूरा प्रयास किया, उनके द्वारा लाया गया आसामी भी बड़ी मोटी रकम देने को तैयार था, लड़की भी लखनऊ से एम.बी.ए. कर रही थी, परंतु उनके जीजा जी अर्थात् लड़के के पिता श्री रामनिवास पाठक, जो कि सिंचाई विभाग में अब तक भी बाबू के ही पद पर कार्यरत थे, ने विफल कर दिया। पाठक जी के ऑफिस में उनका बड़ा दोहन हुआ था, सेवानिवृत्ति के करीब पहुँच गये थे, परन्तु बड़े बाबू नहीं बन पाये थे। आज उन्हें अवसर अपने सुपुत्र के कारण मिला था, उसे भी उनका साला मारने का प्रयास कर रहा था। पाठक जी ने उन्हें स्पष्ट शब्दों में मना कर दिया और बता भी दिया कि वे कारूण्य के विवाह के लिये अपने अधिशासी अभियंता को जुबान दे चुके हैं।

किसी को भी कारूण्य की इच्छा से मतलब न था। कारूण्य की माँ अति सरल स्वभाव की गृहणी थीं, जिनमें उसकी जान बसती थी। न तो वे बड़ी डिग्री वाली थीं और न ही बड़े घर की बेटी, परन्तु पीठ पीछे भी कोई उनकी बुराई न करता। यही स्वभाव पुत्र को अपनी पत्नी में चाहिये था, वह अपने मन में ये बसाकर बैठा था कि उसकी पत्नी केवल गृहणी ही होगी, उसकी बहुत शिक्षा का कारूण्य के लिए विशेष महत्व न था। उसके विचार में लड़की अपने से नीचे की हैसियत के परिवार से ही लानी चाहिए, अन्यथा वह इज़्ज़त नहीं करती। इन विचारों के साथ उसका मन तो उसके माँ की पसंद की लड़की, जो माँ के मामा के गाँव की थी, के साथ विवाह का था। परन्तु कारूण्य या उसकी माँ, पिता जी के समक्ष किसी भी बात के लिए बहस करें, सम्भव न था।

अन्ततः, कारूण्य का विवाह उसके पिता द्वारा आश्वासित अधिशासी अभियंता, सिंचाई विभाग के यहाँ तय हो गया।

कारूण्य, जो समाज के अधिकारों की रक्षा के लिए एक पुलिस अधिकारी नियुक्त हुआ था, यहाँ तो अपने अधिकारों के लिए भी बोलने में सक्षम न था। परन्तु, अपने बड़े भाई लवलेश,

जो कि एक शादीशुदा अधिवक्ता था, को थोड़ा लड़की के बारे में पता करने को कहा।

लवलेश भी इस बात के लिए तत्पर था, वह चाहता था कि इस लड़की से शादी न होकर, कारूण्य की मनचाही लड़की से हो। वह भी अपने पिता की महत्वाकांक्षा का शिकार हो चुका था, इसलिए वह इस शादी से तनिक भी खुश न था, परन्तु बोल भी नहीं सकता था। पाठक जी ने लवलेश के साथ इसी तरह, बड़ा घर व बड़े दहेज के कारण मनमानी की थी। लड़के को वकालत की डिग्री पाते ही, पिता जी ने पढ़ाई की रकम सूद समेत एक ठेकेदार के घर उसकी शादी कर वसूल कर ली। लवलेश के ससुरजी, पी.डब्ल्यू.डी. के ठेकेदार थे। वे पेशे व रिश्ते में कोई भेदभाव नहीं रखते थे। जिस तरह वहाँ जबरदस्ती, मनमानी करते, उससे जरा भी कम की झलक यहाँ नहीं दिखाते। उनकी लड़की पर भी पिता की पूरी छाप थी। पढ़ी अच्छे कॉलेज से, पर कभीं अच्छे से पढ़ी नहीं। व्यवहार व तौर तरीके न उसके घर पर थे, और न ही उसने कभी उन्हें बाहर से सीखने का दर्द अपने सिर लिया, परिणामतः अशान्ति की द्योतक थी। ऐसी स्थिति का शिकार लवलेश भला क्यों न चाहेगा कि घर में कम से कम एक बहु तो अच्छी हो, जिससे घर एवं उसके भाई की जिंदगी में सुकून बना रहे। इसलिए वह अभियंता की कन्या के बारे में जानकारी हेतु छानबीन शुरू किया, और अपने पेशे के अनुरूप वांछनीय अपराध भी सिद्ध कर दिया। अभियंता की कन्या का अपने किसी सहपाठी के साथ कुछ गहरे संबंध स्थापित हो रहे थे, जिसकी कुछ झलकियाँ वकील साहब उसके बारे में पता लगाने के दौरान उसके पीछे पड़कर देख चुके थे। इस बात की सूचना पिता जी को जब लवलेश ने दिया तो पहले तो एक बार वे विश्वास करने को राजी न हुए, परन्तु लवलेश अपने जिस मित्र के साथ इस केस के समाधान में था, के गवाही पर पिता जी का चेहरा बिल्कुल मुरझा सा गया, और वे अवाक् थे। अन्ततः, इन सारे प्रयासों के परिणामों का फल अच्छा रहा और इस अधिकारी ने अपने वकील भाई के द्वारा अपनी इच्छा पिता के समक्ष रखवायी। पिता भी अभी बीती घटना से उभरे न थे, इसलिए अनमने से हाँ कर दिये।

इधर, लड़की पक्ष के लोगों को तो हवा भी न थी के भाग्य इनकी लड़की के लिए ही इतना ताण्डव कर रही थी। जब कारूण्य की माँ अपने मामा के घर के द्वारा उनके घर खबर करवायी कि उनका लड़का वहाँ विवाह करना चाहता है, तो उन लोगों की खुशी का तो ठिकाना न रहा।

वैशाली, जैसा नाम वैसे स्वभाव की लड़की थी। विशाल हश्दय में भावों को सदैव समान बनाये रखने की गजब कला थी उसमें। वह अपने गाँव के नजदीक के विद्यालय से इण्टरमीडिएट की पढ़ाई पूरी कर स्नातक की पढ़ाई व्यक्तिगत रूप से कर रही थी। परन्तु घर के काम-काज में उस सा निपुण शायद उसकी माँ एवं होने वाली सास दोनों न थी। आखिरकार, वैशाली की विशालताओं को भाग्य ने अपने गिरफ्त में समेट लिया। साल के अन्तिम महीने में शुभ मुहुर्त देखकर, लग्न रखा गया।

विवाह सम्पन्न हुआ और वैशाली अपने भाग्य की बोई हुई फसल काटने के लिए अपने ससुराल पहुँची। प्रथम मिलन में तो कारूण्य, वैशाली के निर्मल सौंदर्य को ही निहारता रहा उसके मन में यह बात बार-बार आ रही थी कि यदि वह अपने पिता के समक्ष अपनी इच्छा को प्रकट न करता, तो वही अभियंता की कलुषित कन्या के साथ जीवन को काटना पड़ता। कारूण्य-वैशाली का मेल सच में विशाल करूणा के मेल सा था। दोनों के स्वभाव की सहजता तो किसी को भी सम्मोहित करती थी।

कारूण्य को अपनी ड्यूटी पर तैनात हुए छः महिने पूरे होने को थे, उसने अपने विभाग से लेकर अन्यत्र तक जो भी उसके कार्यक्षेत्र में थे काले कामों पर पूर्णतः नकेल कस रखी थी। विभागीय स्तर पर तनिक भी लापरवाही अवांछनीय एवं दण्डनीय थी। जितनी आशायें एवं सपने उसके अपने पुलिस अधिकारी से थे, उनकों कारूण्य पूरी तन्मयता से पूरा कर रहा था।

परन्तु वह घर जब भी आता, उसे पिता जी का अवांछनीय भाषण सुनना पड़ता। वे अपने विभागीय अधिकारियों की कमाई देखते तो उन्हें लगता कि उनका पुत्र क्यों नहीं कमाता है इस तरह। कारूण्य और किसी के मुँह से ईमानदारी छोड़ और कोई बात नहीं सुनता पर पिता का पूरा प्रवचन बेईमानी पर ही होता था।

उसकी पत्नी उसके लिए स्तम्भ थी। जब वह अपनी पत्नी को अपने कामों के बारे में बताता, वह बड़े रोमांच के साथ सुनती और खुश होती। इनके जीवन में खुशियों ने और पाँव पसारा, वैशाली ने जुड़वा बच्चों को जन्म दिया- एक लड़का एवं एक लड़की को। परन्तु इधर लवलेश की पत्नी की गोद अभी भी सुनी थी। वैशाली को आये डेढ़ एवं समज्ञा, लवलेश की पत्नी, को आये चार वर्ष हो चुके थे। लवलेश एवं उसकी पत्नी के बीच क्लेश और बढ़ा, छोटे भाई को बच्चे होने से। धीरे-धीरे भाइयों के वैचारिक भेद का प्रभाव भी उनके रिश्ते पर पड़ने लगा था। अपने पेशे के नाते लवलेश, कारूण्य के पद के फायदे का हमेशा आशा करता, परन्तु कारूण्य अपने फर्ज की ही गंगा में सिर्फ गोते लगाता था। किसी भी कीमत पर वह इस बात को बिल्कुल नहीं सह सकता था कि कोई उसके ईमान व चरित्र पर प्रश्न उठाये, वह अपने भाई कि किसी भी आशा की पूर्ति कभी नहीं करता था। जिससे दोनों के मध्य जो प्रेम का पर्वत विराजमान था वह घृणा की खाईं में रूपांतरित होने लगा था।

वैशाली के विशाल हृदय को लवलेश की पत्नी, समज्ञा दिन-प्रतिदिन संकुचित करने के अथक प्रयास में रहती थी। वह अपने जेठानी होने का फायदा भी ताक पर रखकर वैशाली की सेवाओं का सुख नहीं लेती। देवी जैसी सास को अनावश्यक रूप से खरी-खोटी सुनाती एवं छोटे बेटे-बहु की पक्षधर होने का दोष लगाती। यहाँ कहती और उससे बढ़कर लवलेश के दिमाग में भरती, वह भी कभीं-कभीं माँ को बोलकर चला जाता। वैशाली को ये सब बिल्कुल भी सहनीय न था, लेकिन मर्यादावश वह अपनी जुबान भी न खोलती और न कुछ पति से कहती। इसी तरह इन

घरेलू मामलों में रहती, पिसती वैशाली को इस घर आये तीन साल होने को थे।

कारूण्य के ईमानदारी एवं कुर्सी का फायदा न उठाने वाले व्यवहार से किसी को किसी भी प्रकार का लाभ न था। हाँ, घरेलू कलह में बढ़त जरूर हुई। लवलेश अब अपने माता पिता को अपने स्वार्थ की बलिवेदी पर चढ़ाने को तैयार था। वह पिताजी को न्यायालय के पास बिक रहे घर को खरीदने के लिए सहमत कर चुका था जिसमें पैसा कारूण्य को लगाना था क्योंकि पिता जी के पास तो बड़ी छोटी रकम थी। कारूण्य ने पिता के कहने पर बैंक से बीस लाख का ऋण लिया जिसकी किश्तों को प्रतिमाह कारूण्य अपने आधे वेतन को देकर चुकाना रहता था और वह घर पिता जी के नाम पर खरीद लिया गया। परन्तु इतना सा पाना लवलेश के लिए पूर्णतः नाकाफी था क्योंकि जिन कामों के लिए वह अपने भाई के कुर्सी का इस्तेमाल चाहा वह कारूण्य कभी होने न दिया और यही घर में पारिवारिक कलह का कारण बनने लगा। पिता जी भी लवलेश का प्रायः पक्ष ले लिया करते। कारूण्य को सुना भी देते, ''क्या भाई के लिए एक फोन भी थाने में नहीं कर सकते, इतना भी स्वार्थी ना हो जाओ, जिससे पारिवारिक रिश्ते खराब हों, एक फोन करने में तुम्हारा क्या लगता है? दुनिया भर में एक तुम्ही ऐसे ईमानदार बचे हो जो रिश्ते-नाते सबको ताक पर रखकर ईमानदारी कर रहा है।'' इन सारी फटकारों के बाद भी कारूण्य कोई प्रतिउत्तर नहीं देता। पिता जी के जी में जो आता कह लेते थे।

कारूण्य के जाने के पश्चात् इन सारे कलहों का परिणाम वैशाली भुगतती, सब सुनती पर बोलती कुछ नहीं। परन्तु ये सब माँ के लिए असहनीय हो रहा था। उनके बर्दाश्त की सारी हदें पार हो गयीं थी। वो वैशाली को समझातीं कि अब बच्चे बड़े हो रहे हैं उन्हें शहर में कारूण्य के साथ रहकर पढ़ाओ-लिखाओ पर वैशाली किसी भी तरह माँ जी को छोड़कर रहने को तैयार न होती। उसका स्वभाव कारूण्य के माँ से भी शांत व गम्भीर था। परन्तु इस बार माता जी को बस कारूण्य के आने का इंतजार था।

कारूण्य घर पर अपने कमरे में बैठा हुआ था कि माँ जी अन्दर आयीं और कारूण्य से बोलीं, ''मेरी एक बात मानोगे?''

कारूण्य ने कहा, ''आज तक टाला हूँ क्या?''

''लेकिन आज टाल सकते हो'' माँ ने कहा।

कारूण्य ने मुस्कुराकर कहा, ''माँ तेरी बात मेरे लिए हमेशा मेरा भविष्य रही है, तू बता न क्या करना है?''

माँ ने कहा, ''मेरी कसम लो पहले'' अरे माँ! कसम की क्या जरूरत है? मै कह रहा हूँ ना''

''नहीं, पहले कसम लो'' माँ ने कहा,

''ठीक है तुम्हारी कसम, अब बोलो'' माँ के सिर पर हाथ रखते हुए कारूण्य ने कहा।
''तुम वैशाली और दोनों बच्चों को अपने साथ लेकर जाओगे'' माँ ने बोला।

कारूण्य का चेहरा तो पीला सा हो गया, लेकिन खुद को सम्हालते हुए उसने कहा, ''ठीक है, घुमा ले आयेंगे''

''नहीं, अपने ही साथ रखोगे, कसम की लाज अगर होगी तो मना नहीं करोगे'' माँ ने समझाते हुए कहा।

कारूण्य की आखों में आसू आ गये, बोले, ''माँ ऐसा क्यूँ कर रही हो?''

माँ बिना कुछ बोले बाहर चली गयी। कारूण्य को दो दिन बाद जाना था। उसी रात को कारूण्य ने वैशाली से सोते समय पूछा, ''क्या हो गया है? घर में कुछ परेशानी है क्या? माँ से तुमने साथ चलने के लिए कहलवाया है क्या?''

वैशाली अचम्भित थी, ''मुझे तो पता भी नहीं कि माँ जी ने आप से ऐसा कुछ कहा, तो फिर मैं क्यूँ कहूँगी?''

''तो फिर माँ ने क्यूँ कहा ऐसा?'' कारूण्य ने फिर कहा।

वैशाली के चेहरे पर ही खुद प्रश्नवाचक चिन्ह था। कारूण्य ने बात टाल दिया पर वैशाली समझ गयी थी कि माँ जी उसे यहाँ घर पर रखकर झगड़े का कारण नहीं बनाना चाहती थीं।

वैशाली ने माँ जी से न जाने कि इच्छा जाहिर की परन्तु माँ जी ने कठोरता बरतते हुए कहा, ''अब तुम्हारा परिवार बड़ा हो गया है, बच्चे पढ़ने लायक हो गये, बच्चों के पिता को भी जिम्मेदारी का एहसास होने दो हमारे ही उपर आश्रित न रहो''।

वैशाली कुछ और कहे इससे पहले माता जी ने बात बदलते हुए वैशाली से कारूण्य के नाश्ते के लिए पूँछा। रात के खाने से पहले माँ जी ने खुद के दबाव में व खुद साथ रहकर तैयारी पूरी करा दी। ये सारी बातें समज्ञा मूक दर्शक बने देख रही थी और कुछ कुछ भी टिप्पणी नहीं की।

शाम के समय जब सभी लोग, पिता जी, लवलेश, कारूण्य व उसके बच्चे खाने पर बैठे, तब कारूण्य ने माँ वाली बात श्रेष्ठ जनों के समक्ष प्रश्नवाचक रूप में रखा। पिता जी कुछ बोले इससे पहले लवलेश ने कहा, ''ये तो बड़ी अच्छी बात है, मैं भी कहने वाला था। बच्चों की शिक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है'', पिता जी भी उसी भाव में बात का समर्थन कर दिये।

यहाँ वैशाली एवं बच्चों के लिए पूर्णतः नया माहौल था। जहाँ देखते वहाँ पुलिस रहती थी। गाँव में बच्चे पुलिस का नाम सुने या यूँ ही कभी देखे होंगे, क्योंकि कारूण्य अपने साथ घर किसी को लेकर कभी नही जाता था। लेकिन यहाँ तो अलग ही माहौल था। वैशाली को अपने स्वभाव के कारण बहुत ज्यादा फर्क नहीं पड़ा, नहीं तो और कोई औरत होती तो परेशान हो जाती, क्योंकि, कारूण्य परिवार को समय कम दे पाते, और कोई अन्य आ नहीं सकता था। वैशाली माँ-पिता जी को याद कर उदास हो जाती थी। एक विद्यालय में बच्चों को भी प्रवेश दिला दिया गया, वे स्कूल जाने लगे, परन्तु स्कूल से आने पर वे दादी के लिए रोज रोते थे।

इस तरह कुल पन्द्रह दिन ही बीते होंगे कि वैशाली ने कारूण्य से माँ जी को लिवाने का अनुरोध किया। कारूण्य ने कहा मैं भी यही सोच रहा था।

माँ जी के आने से सब खुश हो गये और माँ को भी अपने बच्चों को देखकर बड़ा चैन मिला। अब बच्चे वैशाली सबके दिन खुशी-खुशी बीतने लगे। इस तरह लगभग बीस दिन बीते होंगे कि माँ ने वापस जाने की इच्छा जाहिर की, दस दिन और बीतने के बाद उन्हें वापस भिजवाना पड़ा। शाम को लगभग सात बजे वे घर पहुँची, पहुँचने पर देखा कि समज्ञा घर पर नहीं थी। लवलेश भी घर पर न था। पिता जी से उन्होंने पूँछा, ''समज्ञा कहाँ है?''

पिता जी ने कहा, ''मायके, पता नहीं एक दिन क्या हुआ लवलेश सुबह मुझसे बोला कि समज्ञा की माँ की तबीयत अच्छी नहीं है, मैंने पूँछा कि कोइ चिठ्ठी, तार आया क्या? तो लवलेश ने बताया कि रात को उसने अपने माँ के बारे में कुछ स्वप्न देखा तबसे रोये जा रही थी, बार-बार जाने को कह रही थी, मैं क्या कहता? चली गयी लवलेश के साथ''।

माँ जी ने खाने के बारे में पूँछा, तो बताये कि श्याम की माता जी भेज देती थीं। यह सब कुछ असोचनीय था। उस दिन श्याम के घर खाना सधन्यवाद मना करके, माँ जी ने खुद बनाया। लवलेश जब कचहरी से लौटा तो खाना न खाने की इच्छा जाहिर की, बताया कि वह बाहर से ही खाकर आया था। माता-पिता जी ने खाना खाया और लेटे। माता जी सारी बातें सोचते-सोचते कब सो गयी पता ही नहीं चला। सुबह जब पानी का लोटा लेकर पिता जी को जगाने गयीं तो पाया कि उनकी ऑखें चढ़ी हुई थीं और सारा शरीर अकड़ा हुआ था। बिस्तर पर ही शौच हो गयी थी। वे चिल्लाती हुई लवलेश के पास आयीं। लवलेश तुरंत ही डॉक्टर को अपनी मोटर साइकिल पर ही बैठा लाया। चिकित्सक ने जब रक्तचाप मापा तो बताया कि रक्तचाप बहुत बढ़ जाने के कारण ब्रेन हैमरेज हो गया है, अतिशीघ्र अस्पताल में भर्ती कराने की सलाह दी। पूरा गाँव जुट गया था। कारूण्य को भी नजदीक के एस.टी.डी. से फोन कर दिया गया, खबर पाते ही कारूण्य सपरिवार घर के लिए निकल गया। परन्तु इधर पिता जी का रास्ते में ही देहान्त हो गया, अस्पताल पहुँच ही न सके। पार्थिव शरीर को लेकर लौट आये। लवलेश का कहना था कि कारूण्य के आने के पश्चात् ही दाह संस्कार होगा। परन्तु गाँव के लोग इसके पक्ष में न थे उनका कहना था कि कारूण्य के आने में एक दिन लगेगा तब तक मिट्टी घर पर पड़ी नहीं रहनी चाहिए। जिसे दाह संस्कार करना है अर्थात् बड़ा लड़का तो घर पर ही है तो कोई समस्या नहीं है।

अन्ततः, लवलेश को गाँव वालों की मर्जी का ही करना पड़ा और बिना कारूण्य के इंतजार के ही दाह संस्कार कर आया। रात को लगभग तीन बजे ही कारूण्य घर पहुँच गया, उसे देखते ही माँ की हालत और भी रोते-रोते खराब हो गयी, उनका भी रक्तचाप काफी बढ़ गया, रात को ही डॉक्टर को लिवाना पड़ा। पूरे घर में केवल रोने की ही आवाजें सुनाई दे रही थीं। कारूण्य

तो सदमें में आ गया था, न बोलना, न रोना न चेहरे पर कोई भाव, केवल आँखों से आसू नहीं रूक रहे थे। सबसे बड़ा उसे अफसोस ये था कि अंतिम दर्शन भी नहीं कर सका, ''क्या यही जीवन की परिस्थितियाँ एवं जीवन है? जो हमें कंधे पर बैठाकर दुनिया दिखाये उन्हें आज मैं अन्तिम कंधा भी न दे सका, जीवन बहती हवा के मे जल रहे एक दीपक के समान है, कब बुझ जाये ये पता नहीं होता।'' व्यथा व अनायास का पश्चाताप् कारूण्य के मन को जलाये जा रहा था। तेरहवें दिन तक का संस्कार समुचित ढंग से हुआ। सब कुछ शान्ति से सम्पन्न हो जाने के बाद जीवन को पुर्नगति देने के लिए कारूण्य को जाना था, लेकिन इस बार वह हठ पर था, माँ को अपने साथ रखने के लिए। लवलेश व समज्ञा से पूँछने पर वे लोग बड़े शांत भाव से ले जाने की अनुमति यह कहकर दे दिये कि, ''कुछ दिन बाहर रह लेने से मन को थोड़ी शांति मिल जायेगी, यहाँ बार-बार पिता जी की याद आयेगी। हर तरह से अनुनय विनय कर कारूण्य माँ को अपने साथ अपने सरकारी आवास पर लिवा आया। धीरे-धीरे इस गम को भूलने में एक दूसरे का साथ उन्हें सहायक रहा। इधर लवलेश ने पिता जी की मृत्यु को व्यर्थ न जाने दिया। अपनी पत्नी के परामर्शानुसार मृतक आश्रित होने का क्लेम किया। तमाम दौड़-भाग करने के पश्चात् उसे स्थानान्तरण के साथ नौकरी मिल गयी। अब घर पर कोई न था, लवलेश भी पत्नी के साथ अपने नौकरी पर रहने लगा। दोनों भाइयों के मध्य लवलेश वैसे ही दूरी बनाये हुआ था और अब तो उसे और भी कारूण्य की जरूरत न थी। न तो फोन न पत्र व्यवहार, सब बन्द थे। इधर कारूण्य भी अपनी ड्यूटी में तल्लीन थे। कारूण्य के कार्यालय में ही एक सब-इंस्पेक्टर नवीन सिंह था, जिसकी ईमानदारी एवं कर्त्तव्य परायणता से कारूण्य बड़ा प्रसन्न रहता था। वैसे भी कारूण्य के कार्यालय में ईमानदार ही बचते थे। परन्तु यह कर्त्तव्यपरायण भी था। कारूण्य जैसे अधिकारी के साथ काम करने में उसे बड़ा गौरव महसूस होता था। उसका भरसक प्रयास यही रहता कि वह कारूण्य के साथ ही रहे। और इस प्रकार धीरे-धीरे वह अपने अधिकारी के नजदीक आ गया था। वैसे तो अपने व्यक्तिगत काम के लिए कारूण्य कार्यालय स्तर पर किसी को कोई काम नहीं कहता था। परन्तु नवीन अपनी ड्यूटी के बाद भी आकर माँ जी से आवश्यकता पड़ने पर बुलवा लेने के लिए कह जाता था। माँ जी के मायके में ही उसका भी ननिहाल था, इस कारण वह कुछ और भी ज्यादा माँ जी के लिए परिचित हो गया था। खाली समय में बच्चों को भी घुमा लाता, कभी खुद ही जाकर बच्चों को स्कूल से लिवा आता, पहुँचाने चला जाता। कारूण्य भी उसे पसंद आता था, माँ की खातिर उसे थोड़ा वह भी अनौपचारिक होने की छूट दे देता। एक दिन नवीन ने अपने बढ़ाये हुए प्रेम व लगाव का थोड़ा फल माँगा, उसने अपने गाँव के नजदीक के पुलिस चौकी पर तैनाती देने के लिए प्रार्थना की। कारण पूँछने पर माता-पिता एवं परिवार की देख-रेख की दुहाई दी, बताया कि पिता गठिया के रोगी होने के कारण ज्यादा चल नहीं पाते, कम से कम नाम का ही सही वह सहारा तो रह सकता। कारूण्य ने उसके स्थानान्तरण

को स्वीकृति दे दी।

एक दिन पुलिस के एक मुखबिर से शहर में गांजा व्यवसाय की सूचना मिली एवं गांजा लाने वाली गाड़ियों के आने का दिन भी पता चला। खबर के अगले दिन ही गाड़ियाँ आ रहीं थी। शहर में प्रवेश के पहले ही रास्ते में पुलिस बैरियर लगा कर छावनी बनायी हुई थी। जिन गाड़ियों की खबर थी उनके साथ उस जिला के एक बड़े आदमी जिला पंचायत अध्यक्ष चिरंजीव सिंह के छोटे भाई रणविजय सिंह अपनी सफारी से पीछे-पीछे आ रहे थे। वैसे तो एस.ओ. तक किसी को रोकने की मजाल न थी परन्तु ऊपर के आदेश के कारण ऐसा करना पड़ा। रणविजय का गेहूँ, धान इत्यादि के खरीद फरोख्त का व्यवसाय था और ट्रक में भी बोरों में यही लदे थे। उतार कर निरीक्षण करने की किसी की हिमाकत भी न थी। संयोगवश डी.एस.पी. साहब का दौरा उसी वक्त हुआ, रणविजय सिंह का चेहरा तो पीला सा पड़ गया, उन्हें डी.एस.पी. के बारे में खूब पता था। एस.ओ. ने कप्तान साहब को बताया कि खबर तो इन्हीं गाड़ियों की थी परन्तु सब में गेहूँ लदे हैं। डी.एस.पी. खुद खड़े होकर बोरे उतरवाने शुरू किये और अन्दर के बोरो में से वही निकला जिसकी सूचना थी। बस अब क्या था? गाड़ियाँ सीज करके रणविजय सिंह को तुरंत हिरासत में ले लिया गया।

दिन शनिवार था, कोर्ट बंद थी और अगले दिन भी कोर्ट बंद ही थी, इसलिए चिरंजीव सिंह बहुत घबराये नहीं। उन्हें यह तो पता था कि डी.एस.पी. बहुत ईमानदार है लेकिन सोचा कि भाई के लिए डी.एस.पी. का ईमान डिगाने भर का पैसा दाव पर लगा देंगे। परन्तु परिणाम बुरा रहा। कारूण्य ने अध्यक्ष से कड़े रवैये में बात की और उनके समझौते की बात पर कहा कि, ''उम्र का लिहाज करके छोड़ रहा हूँ नहीं तो मारकर भाई के साथ ही कल पेश कर देता, दोबारा इधर दिखाई भी न देना'' ये बातें, ये रवैया चिरंजीव सिंह को बड़ा ठेस पहुँचायीं, मन ही मन वे बोले, ''ठीक है भाई के लिए न सही, तुम्हारे लिए एक बार जरूर आऊँगा'' फिर वहाँ से चुपचाप उठे और बाहर निकल गये।

सोमवार को रणविजय सिंह पर मुकदमा चला और पुलिस हिरासत में दे दिये गये। जमानत की अर्जी भी नामंजूर कर दी गयी। पूरे जिले में चिरंजीव सिंह का मजाक बन गया था, और इसका कारण उन्हें सिर्फ डी.एस.पी. दिखाई दे रहा था।

एक दिन डी.एस.पी. साहब औचक निरीक्षण पर थे। रास्ते में नवीन सिंह की पुलिस चौकी भी थी, तो सोचे कि चलो निरीक्षण भी हो जायेगा, और नवीन से मुलाकात भी। ज्योहिं कारूण्य अन्दर प्रवेश किये उन्होने देखा कि नवीन के टेबल पर सौ-सौ के नोटों के दो बंडल पड़े थे और हवलदार दो लोगों को खोल रहा था। कारूण्य को देखते ही नवीन को पसीना आ गया, उसे समझ में आ गया कि अब उसका बच पाना नामुमकिन था। कारूण्य भी आश्चर्य में था कि उसके कार्यालय में इस व्यक्ति का क्या व्यवहार था और इस चौकी पर क्या हो गया। कारूण्य

के पूँछने पर कि पैसा कैसा है? नवीन कुछ न बोला, मूक बना रहा।

मतलब सीधा सा था कि वह उन पैसों को लेकर एक अपराधी को छोड़ रहा था। पूछने पर पता चला कि वह व्यक्ति जो जेल में था, ने गाँव के किसी व्यक्ति का झगड़े में मारकर हाथ पैर तोड़ दिया था, चूँकि वह नवीन की बिरादरी का था इसलिए वह मिन्नते करने पर पैसे लेकर छोड़ रहा था। बस फिर क्या था नवीन सिंह को कारूण्य ने तत्काल प्रभाव से निलम्बित कर दिया। नवीन भी कुछ कहने की स्थिति में न था। लेकिन डी.एस.पी. साहब को लेकर मन में कुछ क्षोभ जरूर पैदा हुआ, कि चाहते तो चेतावनी देकर छोड़ देते, लेकिन इतनी भक्ति का परिणाम भी वही दिया जो और किसी को देते।

कारूण्य से नवीन कुछ बोला ही नहीं, सिर्फ चेहरा लज्जित सा हो रहा था। कारूण्य वहाँ से निकला और चला गया। यहाँ नवीन को सबसे बड़ी चिंता अपने बदनामी की थी। उसे बस यही लग रहा था कि ''चाहते तो चेतावनी देकर छोड़ देते, लेकिन अच्छा नहीं हुआ''।

इधर चिरंजीव सिंह भी चुप नहीं बैठे थे, उनका वकील रणविजय को छुड़ाने के लिए लगा हुआ था परंतु इनको तो बस डी.एस.पी. की पड़ी थी। वकील से डी.एस.पी को हटवाने की हर संभव सलाह ले रहे थे। वकील की सलाह में किसी भी सरकारी महकमे में अधिकारी के निलम्बन की सबसे सरल व आसान युक्ति उसे घूस लेने के जुर्म में पकड़वाना है। सलाह तो सही थी, परन्तु काम आसान था नहीं, क्यूँकि डी.एस.पी. बेहद ईमानदार था और यदि चिरंजीव और एक बार गये तो इन्हें तो जेल की हवा खिलायेगा ही वह, यह सोचकर इनकी भी हिम्मत नही पड़ती।

एक दिन ऐसे ही सोच में चिरंजीव बैठे थे कि नवीन के पिता जी उनके घर आये। वे भी चिरंजीव सिंह के बिरादरी के व्यक्ति थे। आपसी सम्बन्ध अच्छे थे और चिरंजीव सिंह जिला अध्यक्ष थे तो उनसे नवीन की बहाली के लिए बात करने के लिए आये थे। जब चिरंजीव सिंह को ये बात पता चली कि नवीन निलम्बित है तो पहले तो उन्हें आश्चर्य हुआ क्योंकि उन्हें ये अच्छी तरह पता था कि नवीन के सम्बन्ध तो डी.एस.पी. से बहुत अच्छे थे, बात करने पर नवीन के पिता भी यही बताते थे। चिरंजीव सिंह ने थोड़ा सा जले पर नमक डाला ''अरे, नवीन तो डी. एस.पी. के घर हमेशा आता जाता रहता था, तो फिर क्या हो गया?'' नवीन के पिता जी भी समर्थन में बोले, ''अरे उनके घर पर नौकर की तरह रहता था, लेकिन वह सब भूल कर खुद निलंबित किया है। चिरंजीव सिंह ने नवीन के पिता जी को अश्वासन देते हुए नवीन को उनसे मिलने के लिए कहा।

अगले दिन नवीन चिरंजीव सिंह से मिलने के लिए आया, उसे क्या पता था कि चिरंजीव सिंह उसे उसके लिए नहीं, अपने लिए बुलाये थे। इस उपयुक्त अवसर को चिरंजीव छोड़ने वाले तो थे ही नहीं। वे नवीन को भावनात्मक रूप से विचलित करने लगे माँ-बाप, बच्चे, भविष्य तमाम

सारी दुनिया भर की चीजें समझा-समझा कर उसे अपनी नौकरी की वापसी के लिए कुछ करने के लिए मजबूत बनाया, फिर डी.एस.पी.के खिलाफ भड़काना शुरू किया। जब उसे लगा कि नवीन सिंह को विश्वास में ले लिया है तब उसने अपनी योजना नवीन के सामने रखी। हाँ, डी.एस. पी. के प्रति कुछ क्षोभ नवीन के मन में जरूर था परन्तु इतना भी न था, कि उनको मिटा ही दे, लेकिन चिरंजीव सिंह उसे समझाने लगे तमाम तरीकों से और बताये कि, ''इस छोटे से जुर्म के लिए बड़े अधिकारियों को फाँसी थोड़ी दे दी जाती है दो चार, दस दिनों के लिए निलंम्बित होंगे या यहाँ से तबादला हो जायेगा। अपने लिए ना सही, अपने भाई-बिरादरी के लिए तो थोड़ा सोच लो। ''अन्ततः आरोप में बहुत छोटी रकम पे तैयार हुआ, जिससे बस तबादला ही हो, कोई सजा न हो जाये।

अगले दिन नवीन दोपहर को डी.एस.पी.कार्यालय पहुँचा, कुछ ही देर बाद चिरंजीव सिंह भी पहुँचे, उनके लिए एपॉइंटमेंट पहले ही लिया जा चुका था। पहले नवीन जाकर डी.एस.पी. से मिला और कुछ ही देर में अपनी गलती मान, माफी माँग निकल आया, क्योंकि मिलना बस दिखावे के लिए था। नाम बुलाने पर चिरंजीव भी डी.एस.पी. से मिले। उसके बाद बाहर इंतजार कर रहे नवीन के साथ एस. पी. आवास गये और गेट के बाहर ही गाड़ी खड़ी कर इंतजार किए। नवीन कुछ सामान के साथ आवास के अंदर गया, माँ जी बैठी हुई थी जाते ही उनका पैर छुआ और मिठाई खिलाते हुए बाकी सामान दिखाकर कहा कि ये कुछ उपहार आप, भाभी एवं बच्चों के लिए माँ ने भेजा है। माँ जी ने पूँछा कि किस बात के लिए उपहार दे रहा है, तो हसकर उन्हें बताया कि आपको पोता हुआ है'' माँ जी ने आशीर्वाद देते हुए सामान को बगल वाले कमरे में रखने के लिए कहा और पूँछा कि, ''कारूण्य से मुलाकात हुई क्या?'' जवाब मे नवीन ने कहा, ''अभी उन्हीं से मिलकर सीधे आ रहा हूँ, पुनः माँ जी का पैर छूकर चलने के लिए उसने माँ जी से विदा ली और निकल गया। माँ जी को उसके निलम्बन की कतई जानकारी न थी।

कारूण्य हमेशा से दो बजे दोपहर को भोजन करने आवास पर आता था, ये बात तो नवीन को पता ही थी। माँ जी बच्चों को स्कूल से लेने गयी थीं। कारूण्य भोजन कर ही रहे थे कि पता चला कि कुछ लोग बाहर बुला रहे हैं। भोजन के बाद जब कारूण्य बाहर निकले तो पाया कि चिरंजीव सिंह के साथ नवीन और तीन अन्य लोग थे जो अपने को विजिलेंस से बताये। वे लोग कारूण्य से चिरंजीव सिंह की तरफ दिखाकर बोले ''इन्होंने आपको घूस देने की रिपोर्ट की है, नोटों के सीरीज का नंबर भी दिया है।'' कारूण्य को नवीन के आने के बारे में कुछ पता तो था ही नहीं इसलिए उसे जरा भी हिचकिचाहट नहीं थी, उसने खुद ही घर की तलाशी के लिए कहा, और तलाशी लेने पर मिठाई व कपड़े के डिब्बों में तथाकथित श्रेणी के नोट रखे हुए थे। अब कारूण्य को समझते देर न लगी कि यह मूल्य नवीन ने अपने बनाये हुए सम्बन्धों

का वसूला है। सदैंव बेईमानों में ईमानदारी के लिए बदनाम अधिकारी आज बेईमानी से बेईमान करार दे दिया गया। कारूण्य को निलम्बित करने के साथ उस पर जाँच समिति बैठायी गई। चरनदास, कारूण्य का ड्राइवर जो हमेशा उसके साथ रहता था, उसे सब साफ नजर आ रहा था, कि ये तो साहब को फसाया गया है, और उसे विश्वास भी था कि भगवान सब ठीक कर देगा।

इधर कारूण्य के निलम्बन के चार दिन भी नहीं हुए थे रणविजय सिंह जमानत पर छूट गया। और नवीन की बहाली तो कारूण्य उसी दिन कर दिया था जिस दिन नवीन उससे मिलने गया था पर उसने नवीन को बिना बताये ये सब किया था। नवीन के घर पहुँचते ही उसे सूचना मिली की वह बहाल हो गया है। ये खबर सुनते ही उसका चेहरा तो पीला पड़ गया, वह समझ चुका था कि जो औपचारिक भेंट उसने कारूण्य से उसे फसाने के लिए की थी ये बहाली उसी भेंट का परिणाम है नवीन का मन उसे धिक्कारने लगा कि जो व्यक्ति उसकी एक मुलाकात पर उसकी इतनी बड़ी गलती माफ कर दिया उसके साथ उसने क्या किया? दुश्मन के साथ मिलकर उसके चरित्र पर, दाग लगा दिया, उसे ही निलम्बित करा दिया। अब तो उसके मन में आ रहा था कि जाकर सारी असलियत बोल दे पर उसे डर था कि इस बार उसकी नौकरी सदा के लिए चली जायेगी व जेल भी होगी। उसने सोचा कि यदि दस दिन में साहब की बहाली नहीं होती है तो वह सब सच बता देगा, गलती तो हो ही गयी है जो कि अक्षम्य है। अब उसे खुद से घृणा सी हो रही थी। उसने माँ जी का अटूट विश्वास तोड़ा था।

रणविजय के साथ जो जेल में हुआ था उसका बदला उसे भी तो लेना था ही। वैसे भी वह गुण्डा तो स्वभाव से ही था। एक दिन कारूण्य किसी काम बस बाहर थे। रणविजय उन्हें वहीं से अगवा कर लिया और वहीं ले आया जहाँ उसे गिरफ्तार किया था, ये जगह शहर से बाहर व सुनसान थी, वैसे भी रात के 11 बज रहे थे। रणविजय ने कारूण्य को बड़ी बेरहमी से मरवाया और रात के लगभग साढ़े ग्यारह बजे उसे अधमरी अवस्था में उसके घर के सामने छोड़ता गया। कारूण्य के इतनी रात तक न आने के कारण घर में वैशाली एवं माँ सभी परेशान थे, माँ तो लगभग दस बजे चरनदास के घर भी हो आयी थीं, लेकिन वो भी घर पर न था।

चरन जब अपने घर आया तो उसकी पत्नी ने उसे बताया कि ''साहब की माता जी आयी थीं, साहब घर नहीं पहुँचे थे।'' यह सुन कर चरनदास तुरंत डी.एस.पी. साहब पहुँचे कि नहीं देखने के लिए अपने नये घर पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने जो देखा उसके होश उड़ गये। उसने वहाँ पाया कि घर के बाहर डी.एस.पी.साहब खून मे लथपथ मरणासन्न स्थिति में पड़े थे। वह रोता चिल्लाता घर के अन्दर गया और सबको बुलाकर खुद भागा गया आटो रिक्शा लाने। बिना किसी विलम्ब के चरन कारूण्य को अस्पताल लेकर भागा। वहाँ डाक्टरों ने स्थिति नाजुक बतायी। वैशाली, माँ जी को सम्हालने में थी कि कही उनका भी बी.पी ना बढ़ जाये, क्योंकि वो भी तो रक्तचाप की मरीज थीं। वैशाली के हृदय पर तो जैसे वज्र गिर गया हो। कारूण्य को आई.सी.यू.

में भर्ती कराया गया और चिकित्सकों ने बताया कि वे कोमा में हैं, और यदि चौबीस घंटे में कोमा से बाहर न आये तो बचा पाना मुश्किल हो जायेगा, परन्तु ये बातें डॉक्टर चरन को ही बस बताये थे। वैशाली को चरन ने बस इतना बताया था कि चोट काफी गहरी है पर चिंता की बात नहीं है। अगले दिन सुबह तक होश न आने पर चरनदास की आँखें रूक नहीं पा रहीं थी। वैशाली भी अपना धीरज खो रही थी। परन्तु दोपहर के दो बजे तक होश तो आ गया, लेकिन ज्यादातर अंग निष्क्रिय अवस्था में थे। चिकित्सकों के अनुसार दिमाग से जुड़ी हुई कोई नस बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गयी थी जिसका इलाज वहाँ संभव न था। किसी बड़े शहर में बड़े लम्बे खर्च पर ऑपरेशन के बाद ही ठीक होने की कुछ संभावना थी। परन्तु खर्च इतना ज्यादा बताया जा रहा था कि ज़ायदात बेचने पर भी नहीं जुट पाती। अब केवल एक ही आशा थी, कारूण्य के निर्दोष घोषित होने का इंतजार। यदि ऐसा होता तो खर्च तो सरकार वहन करती।

कारूण्य को लगभग एक महीने के बाद घर लाया गया। अस्पताल में काफी परिजन आये सान्त्वना दिये और चले गये। लेकिन लवलेश नहीं आया, भाई के जितना प्यार करने वाला और भाई के जैसा दुश्मन कोई नहीं होता, यह कथन लवलेश सत्य कर रहा था।

अब यहाँ स्थिति फटेहाल थी, जो भी पैसा था सब इलाज में खर्च हो गया बल्कि कम पड़ने पर चरनदास ने भी काफी पैसा लगाया था। घर के खर्च के लिए भी अब घर में पैसा न था। आज वैशाली को अपने कम पढ़े लिखे होने का पश्चाताप् हो रहा था। कारूण्य का वेतन, जो निलम्ब के कारण आधा आता था, वो कारूण्य द्वारा लिए गये ऋण की पूर्ति में ही कट जाता था, घर चलाने के लिए भी नहीं बचता था। उसके लिए, घर से बाहर कुछ करना तो असंभव सा लग रहा था। पूरा दिन वह कारूण्य कि उसी अर्द्ध मूर्छित शरीर की सेवा में रहती लेकिन यह और नहीं चल सकता था, क्योंकि परिवार चलाने के लिए उसे पैसे की अति आवश्यकता थी।

इधर नवीन खून के आँसू पी रहा था, उसे सब पता चल चुका था, एक बार तो वह अस्पताल तक आने की हिम्मत किया था, परन्तु अन्दर जाकर माँ जी एवं भाभी का सामना करने की हिम्मत नहीं जुटा पाया। उसने ये पता कर लिया था कि ये काम रणविजय सिंह का था। उसे अब बस इंतजार था तो कारूण्य के ठीक होने का, लेकिन यह भी उसे पता चल गया था कि वे अर्द्ध मूर्छित अवस्था में अस्पताल से घर पहुँचा दिये गये हैं। फिर भी उसे आशा थी कि कहीं न कहीं से दवा कराकर माँ जी उन्हें ठीक तो करा ही लेंगी, भाभी की भक्ति उन्हें ठीक किये बिना नहीं रहेगी। वह अपनी ड्यूटी में ही रणविजय से कारूण्य के हर चोट का हिसाब लेने का प्रण ले लिया था एवं उसके बाद से कारूण्य से माफी माँगकर अपना जुर्म कुबूल कर लेता। कारूण्य के बिना ठीक हुए नवीन उनके घर जा नहीं सकता था, इसलिए और थोड़े दिन के इंतजार के लिए अपने अन्तर्मन को समझा लिया।

इधर घर की आर्थिक स्थिति दिन पर दिन खराब ही हो रही थी। रोज के दवा का खर्च, खाने-पीने का खर्च बच्चों के स्कूल का खर्च, धीरे-धीरे महिना होने को आया। घर पे जो सीमित गहने थे वे भी गिरवी रख दिये गये थे और वे पैसे भी समाप्त हो गये थे। अब वैशाली के सामने कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। वह मायके से कमजोर थी, वे लोग आये थे, हाल-चाल लेकर जा चुके थे। इस समय वैशाली को कोई भी सहारा नहीं दिख रहा था। केवल एक चरनदास था जो जब भी समय पाता चला आता था। अपने औकात भर तो वह कर ही चुका था। घर की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। वैशाली ने खुद चरनदास से कोई रास्ता सुझाने के लिए कहा। काफी सोचने के बाद बड़ी हिम्मत जुटा कर चरनदास ने अपने बच्चों के स्कूल में पढ़ाने के लिए बात करने को कहा। वैशाली तैयार हो गयी। दो दिन बाद चरनदास ने वैशाली को स्कूल में बिना ये बताए कि डी.एस.पी.साहब की पत्नी है, लगवा दिया। अब वैशाली का काम दोगुना और भोजन रोज का रोज कम पड़ता, जब सब खा लेते तो जो बचता वह खाकर पढ़ाने चली जाती। स्कूल से उसे 2500/- मात्र मिलने थे, प्रति महीने केवल इतने पैसों के लिए भी उसे अपने बीमार पति को छोड़कर जाना पड़ता था। कारूण्य सब देख सकता था, सब महसूस कर सकता था, परन्तु भगवान का पता नहीं ये कैसा इम्तिहान था कि वह कुछ करने में असमर्थ था। बस अपने हसते खेलते परिवार को टूटते-बिखरते देखना ही उसके वश में था।

वैशाली का भी स्वास्थ्य दिन पर दिन खराब हो रहा था। उधर जितने दिन कारूण्य अस्पताल थे ऐसे ही कुछ खा ले तो खा ले नहीं तो वैसे ही रह जाती थी। और अब खाने को बचता कम था। एक दिन वैशाली स्कूल गयी थी और माँ जी कारूण्य को नहलाकर दूसरी जगह बैठाने के लिए ले जा रहीं थी कि सामने पड़ी ईंट दिखाई न दी और ठोकर खाकर कारूण्य सहित गिर पड़ीं। दोनों को चोटें लग गयी माँ जी को घुटने में फूट गया और कारूण्य का होठ कट गया था जिससे खून निकल रहा था। माँ जी उस दिन बहुत रोयीं। तमाम सारी बातें उनके दिमाग में आ रहीं थी, जिसकी उँगली जरा सी कट जाये तो कारूण्य की जान निकल जाती थी आज उसके घुटने से खून निकल रहा था पर उनका कारूण्य कुछ नहीं कह रहा था। आँसू थम नहीं रहे थे, आज उनके मन में विचारों का सागर उमड़ रहा था, वे सोच रही थीं कि, "इस उमर में तो मुझे मेरे बेटे का सहारा चाहिए था, पर आज वो मेरे सहारे के लिए गिर रहा है, हे भगवान् कौन सी गलती की सजा है, मुझे भी कारूण्य के पिता के साथ क्यूँ नही उठाया?" किसी तरह हृदय मजबूत करके वो जी रहीं थी, पर आज वह हृदय बड़ा ही कमजोर पड़ गया था। वैशाली जब स्कूल से आयी तो देखती है कि कारूण्य के मुँह पर चोट लगी है तुरंत ही माँ जी के पास पूँछने गयी तो पाया कि खुद उनका भी घुटना फूटा हुआ है, फिर पूँछती क्या समझ गयी कि कारूण्य को सम्हालने में वे भी उसी के साथ गिर पड़ीं थी। वैशाली को देखकर फिर माँ जी की आँखों से आंसू गिरने लगे। अगले दिन वैशाली स्कूल न गयी, लेकिन बिना गये भी चलना

न था। अगले दिन स्कूल जाने पर प्रिंसिपल ने भी खरी-खोटी सुनाई बिना बताये न आने के लिए।

वैशाली को स्कूल जाते अभी पन्द्रह दिन ही हुए होंगे कि उसके गिरते स्वास्थ्य एवं अधिक श्रम का प्रभाव दिखने लगा। उसे अब भूख कम लगती थी। उठने पर पैर कांपते एवं चक्कर सा आ जाता। दो-तीन दिन ऐसे ही और काटे पर अब तो पानी भी पीने पर उल्टी हो जाती थी इस पर माँ जी के जबरदस्ती करने पर एक पास के ही डॉक्टर को दिखाई जिन्होंने उसे पीलिया का रोग बताया, इस पीलिया के साथ उसे बुखार भी आ रहा था। डॉक्टर दवा के साथ यदि ठंडी चीजों का उपयोग ज्यादा बताते तो बुखार बढ़ जाता और नहीं खाने पर पीलिया कम होना मुश्किल हो रहा था, क्योंकि इस रोग में दवा कम और ये चीजें ज्यादा काम आती हैं, और दवा के लिए पैसा भी तो न था। जैसे-तैसे करके दवा आ रही थी। अब वैशाली की हालत बिगडती जा रही थी। डॉक्टर भर्ती होने के लिए बोला परन्तु वो तैयार न हुई, चरनदास से कहलवाकर अपना जो भी वेतन था स्कूल से मंगवायी, और जो गहने गिरवी पड़े थे उनको बेचा तो कारूण्य की दवा घर की खाद्य सामग्री व उधार चुकाने भर का हो पाया। माँ जी जब डॉक्टर के पास ले जाने की बात करतीं तो वह उनसे बोलती आराम महसूस हो रहा है, पिछले कई दिनों से कुछ भी न खानें से अब उसे उठने भर की भी ताकत न थी। हालत ज्यादा बिगड़ती देखकर एक बार फिर चरनदास ने ही सहारा दिया और ले जाकर अस्पताल में भर्ती कराया परन्तु अब डॉक्टर तो तैयार न हो रहे थे भर्ती के लिए भी, सरकारी जिला चिकित्सालय होने के नाते फिर भी भर्ती तो कर लिया पर स्थिति में कुछ भी सुधार न था। अब चरनदास भी धीरज नही रख पा रहा था। उस दिन वह भी खूब रोया वैशाली के पास बैठकर। उसे कुछ समझ न आ रहा था कि जीवन भर सत्य की राह पर चलने वाले के साथ भगवान ये क्या खेल रहे हैं? कारूण्य की डूबती नाव की यही एक खेवइया बची थी, वह भी साथ छोड़ देगी, लग रहा था।

अब वह होश में भी न थी। बच्चे माँ से लिपट कर रो रहे थे, बस, माँ को बुलाते पर वह कोई प्रतिक्रिया नहीं दे रही थी। डॉक्टरों ने चरनदास से उन्हें घर ले जाने को कहा और कहा ये नहीं बचेंगी अब। चरन, वैशाली को रोते बिलखते घर ले आया और कारूव्य के बगल में ही रखे बेड पर लिटा दिया। वहीं बैठकर फूट-फूट कर रोने लगा। माँ जी का तो मानो अब संसार ही लुट चुका था, वो पागल सी हो गयीं थी। बच्चे तो बस माँ को बुला-बुलाकर रो रहे थे। रह-रहकर वैशाली थोड़ी चेतन अवस्था में आती तो बोल तो नहीं पा रही थी, बस आँखों से आँसू छलकते। कारूण्य का मुँह वैशाली की ही तरफ था। उसकी आँखों से आँसू की धार लगी थी, आज उसके जनम-जनम का साथी बीच में ही उसे शायद इसलिए छोड़कर जा रही थी कि वह बहुत दिनों से उससे बोल नहीं रहा था। कई दिनों से उसका नाम लेकर पुकारा न था। वैशाली अपने अंतिम क्षणों में भी शायद यही इन्तजार कर रही थी कि उसका कारूण्य उसे एक बार नाम लेकर पुकार लेता। परन्तु ऐसा कुछ न हुआ और वैशाली अपनी अन्तिम साँसें

ले ली थी, उसके पीछे अब बस आँसू ही बचे थे।

वैशाली के दाह-संस्कार के दो दिन के बाद चरनदास के साथ एक पुलिस अधिकारी कारूण्य से मिलने आये, जो अपने साथ जाँच समिति की रिपोर्ट एवं कारूण्य के पुनः बहाल होने का पत्र लाये थे। चरनदास ने बताया कि नवीन सिंह ने खुद अपने जुर्म का इकरार कर लिया और चिरंजीव सिंह के साथ उसे जेल हो गयी थी। परन्तु यह सब होने में इतनी देर हो गयी थी कि यह पत्र अपना मोल खो चुका था। बीते करीब डेढ़ महीने ने जो खोया, वह अमूल्य सम्पदा वापस नहीं आ सकती थी।

पिछले दो दिनों से न तो कारूण्य की पलकें आराम की थी, और ना ही वे कुछ देख रहीं थी। बस आँखों से आँसू गिरते सूखते और गिरते रहे थे...

असिस्टेंट प्रोफेसर
अंग्रेजी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

बड़ा आदमी

– हिमांशु कुमार

साहब आज बड़े मूड में थे। कोई तो एरियर मिला था उन्हें। आज वे कार्यालय जल्दी पहुँच गये थे। पहुँचते ही उन्होंने घनश्याम को बुलाया और बोले, ''दो जोड़ा पान लगवाकर ले आओ।'' घनश्याम चला गया और साहब अपने अन्य साथियों के साथ देश-दुनिया भर की बातें करते रहे। आज उनकी बातें ख़त्म ही नहीं हो रही थीं।

घनश्याम पान लेकर लौट ही रहा था कि उसका एक्सीडेंट हो गया। उसके इलाज में कुल सात हजार रुपये खर्च हुए। सभी लोग उसका हाल जानने आये और उसे सलाह दी कि सरकार से क्लेम करो, इलाज में खर्च हुआ पैसा वापस मिल जायेगा। घनश्याम की क्लेम फाइल एकदम पास होने के कगार पर थी कि अंतिम से पहले के उच्चाधिकारी ने फाइल पर टीप लिखी, ''क्लेमकर्ता को क्लेम नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह ड्यूटी पीरियड में कार्यालय में मौजूद नहीं था।''

घनश्याम को लोगों ने बहुत कहा कि असल बात उच्चाधिकारी को लिखकर बता दो, तुम्हारा क्लेम पास हो जायेगा। पर घनश्याम ने किसी से कुछ नहीं कहा और न ही लिखकर दिया। एरियर वाले साहब पूरे घटनाक्रम में कहीं नहीं पाये गए और न ही उन्होंने कोई बयान ही जारी किया।

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

ऐ बाबू! बिस्तर नहीं है रे बस्तर!

— रमेश दवे

दोना भर सलफी
ओंक भर ताड़ी
सकोरा भर माड़ी
बस, थिरक उठे पैर
बज उठे, ढोल नगाड़े
एक तुमुल भाषा-भैरव
हँस दिए महुए के फूल
जैसे मौसम ने खोले हों ओंठ!
तरुओं के तन से
फूट पड़े मदमाती गंध के फव्वारे
पेड़ों की छायाएँ
बन गईं काली-काली देंह गठीली
वक्षों पर कस कर बँधी है लाज
ऐसा क्या है रे इनमें
वृक्ष जब देखते हैं इन्हें
बौरा उठते हैं!
ये टूट-टूट कर गिरीं अमिया
जैसे टहनियों के पैर से
बिखर गये हों लरजते घुँघरू
अपनी ही गंध से मदमाई टहनियाँ
जैसे हो गई हों बेसुध
हवा की थाप पर!
हाट, बाज़ार, नाचा, नाटक

घोटुल पर मुलाकात के मीठे सपने
दशहरे का जुलूस
दंतेश्वरी का पूजन
उत्सव होती वनस्पतियाँ
देहों की काली दीप्ति
हाथों में धान
जिस्म पर परिधान
हवा की छुअन से
क्यों कांप उठी है इन्द्रावती
क्यों हो उठा है रोम-रोम
नदी की लहरों की मानिंद–
ऐ बाबू–
सुन, तालियाँ बजा रहे हैं ताड़
कुंकडूं कूं बोल रहा है मुर्ग़ा
उगते सूरज का रंग
यहाँ भी लाल होता है रे
ऐ बाबू–
बिस्तर नहीं है रे बस्तर–
मात्रा नहीं है छोटी 'इ' की
मिटा कर जिसे
बना दिया जाए– बिस्तर से बस्तर!
देह नहीं है सलफी
पी सको जिसे तुम दोने भर-भर
देखो ये काले काले हाथ
सभ्यता की मिट्टी को घुमाते चके पर
–पका कर लाल कर देते हैं
मिट्टी का बदन,
देखो ये उंगलियाँ, छैनी की तरह
टहनी-भर लकड़ी को
बदल देती हैं मूर्तियों में
ऐ बाबू–

लकड़ी या पत्थर नहीं हैं रे मूर्तियाँ
बिस्तर नहीं है रे बस्तर!
गुलाखू चूसते मुँह में
मौजूद हैं अभी प्रस्तर-युग के दांत
ऐसा क्या है रे
तू आता है दबे पांव
दिखाता है आईना
ऐसे क्यों देखता है रे शक्लें, आईने में
देख नदी के साफ-झक्क पानी में
हज़ार-हज़ार चेहरे
पूरी सृष्टि का आईना है नदी,
क्यों समझाता है हमें
देह का भूगोल-
पेड़ की तरह तना जिस्म
टहनियों की तरह लचकतीं बाहें
फूल की तरह खिलतीं मुस्कानें
फलों की तरह रसभरे-स्वाद
एक पूरा उपवन है देह
वनस्पतियों का
झूलती हैं तितलियाँ, खुशियों की तरह!
जा बाबू जा –
यह एक जंगल है बियाबान–
भैसें हैं, भेड़िये हैं
काले तेंदुए हैं, नरभक्षी बाघ हैं
ज़हरीले नाग हैं
जा बाबू जा–
जिस्म नहीं हैं रे ये जंगल!
मेरा आदमी मूसा पकड़ने गया है
मेरा आदमी लाल चींटियाँ बीनने गया है
मेरा आदमी सलफी में छक पड़ा है
मेरा आदमी बौरा उठा हैं

महुए के झाड़ के नीचे—
मेरा आदमी जंगल हो जाता है
ऐ बाबू
बिस्तर नहीं है रे बस्तर!
कुरसियाँ नहीं हैं गद्दीदार
ये पायेदार तन
बाहों के आकार बदल जाते हैं
हँसिया और कुल्हाड़ी में—
एक अबूझ पहेली है
हवा भी,
पानी भी,
पहाड़ भी,
जंगल भी,
बहुत लंबी है रे ये गुफा पुरखों की
वल्कल चढ़े जिस्मों में
हड्डियाँ हैं—
इतिहास के पूर्वजों की—
घास पर सोया बस्तर
बिस्तर नहीं है रे—
आदमख़ोरों का!

क्वा. नं. 19, ब्लॉक-8
सहयाद्री परिसर, भद्भदा रोड
भोपाल—462003 (म.प्र.)

दो कविताएँ

—दिनेश अत्रि

1. आँख मिचौली

तितली ने पीछे से चुपचाप
मूँद लीं चम्पा की आँखें—
पूछा—बूझो तो कौन?

खिलखिलायी चम्पा
प्रमुदित उड़ चली तितली...

नटखट हवा ने मूँदी लहरों की पलकें
कलकल बहती गयी नदी

टिटहरी मूँदती है भोर की पलकें
बदली पहाड़ की
स्वप्न दृश्य की
मात्राएँ राग की
मुरली गोपियों की, गायों की
सुनहरी बालियाँ किसान की

निराकार पूछता है साकार से
अनादि अनंत से
काल महाकाल से
अनहद नाद से
शब्द पुकारता है मौन

निसर्ग में चलता ही रहता है
आँख मिचौली का खेल
बुढ़ाती नहीं प्रकृति
सदा पुनर्नवा–

बहुत दिन हुए
किसी ने पीछे से आकर
बंद नहीं की आँखें
नहीं कहा बूझो तो कौन

आज जब बंद होने को हैं आँखें
पूछते हैं पंचभूत
बहुत दिनों बाद लौटे मित्र
कहाँ रहे इतने दिन!

2. महाभिनिष्क्रमण

बहुत थकान थी
थकान मिटाने दूर दूर तक
कुछ नहीं के बीच
एक वृक्ष की छाया थी
वृक्ष के बाहर की छाया
बाहर की थकान मिटाने को थी
अंतर की थकान मिटाने
अंतर की छाया नहीं थी

अंतर की थकान
भूगोल या इतिहास की नहीं
जीवन की थकान थी
सकल चराचर सृष्टियों से विचर

कभी वापस न लौट पा सकने बराबर
असम्भव दूरी पर चले आने
और चलते चले जाने की
अन्तहीन अनवरत कालयात्रा...
जन्म जन्मान्तरों की अतृप्त भूख की तरह
भूगोल या इतिहास की नहीं
जीवन की चिरन्तन भूख

पाथेय के लिए
झरबेरी में बेर बहुत थे
आत्मा की भूख मिटाने
कोई शबरी नहीं थी
आत्मा की भूख
अंतर की थकान की तरह थी
अंतर की थकान मिटाने
कोई शबरी छाया नहीं

'हरि रम्मा',
मीनाक्षीपुरम्
पथरिया जाट, सागर (म.प्र.)

तीन कविताएँ

—नवीन कानगो

1. हासिल

बड़े मजबूर थे तुम मेरे हालात की तरह
हर-सू नज़र आते हो सवालात की तरह

एक ही ज़रिया था बस तुमको बचाने का
जेहन में दफ्न गहरे ख़यालात की तरह

काश रह जाता मुहब्बत का कुछ भरम
बिखरा है पुर्ज़ा-पुर्ज़ा रवायात की तरह

फ़िरता है आजकल ग़जल ओढ़ वो काफ़िर
पढ़ता है शेर गोया इबादात की तरह

2. रात

हर रात
एक अलग रात होती है

सदियों से दर रोज़ होती
एक सी लगती रातों में
बहुत कुछ अलग-अलग गुज़रा है
सुनसान रास्तों पर काफ़िले की तरह

और सुबहों ने देखा है उसका हश्र

ज्वार भाटे सी
रात पलट कर उतर जाती है
अतल गहरे समंदर में
फिर पलटती है दिन में
बड़ी उछाल लिये लहर बन कर

अगर देखो तो
देख सकते हो
दिन में छिपी रातों को
दूरी में छिपी मुलाकातों को

रात की आग़ोश मिटा देती है
शक्ल, तबस्सुम और रवायात
रह जाती है गहरी साँस लेती
थकी माँदी कायनात

3. मेरा शहर

हर किसी का
एक शहर तो होता होगा,
मेरा भी है
पुराने गीत सा बजता
मेरी यादों में बरबस

उसे छोटा कहने की
मेरी औक़ात नहीं
उसने देखा है मुझे
बहुत छोटा

निक्कर में गली-कटरा में
साइकल चलाते
गर्मियों में नदी-पोखर में
छलांग लगाते

वह शहर जहाँ पहले पहल
'मैं' हुआ
अनगिनत पहलुओं को
जहाँ था छुआ

मेरी रूह पहचानती है
उसके नुक्कड़ पर बनती
जलेबी की चाशनी की महक
सोलहवीं बारिश में
मिट्टी से उठती वो दहक

उस महक के आईन को
लिये फिरता हूँ
नहीं मिलती मगर
ऐसी रूमानी खुशबू किसी ठौर मुझे

अब यों है के वह
बस गया है मेरे अंदर
पीपल, तालाब, स्कूल और
दरगाह के साथ
जैसे मेरा पीर
जानता था जो मुझे
मुझसे पहले

प्रोफेसर
सूक्ष्म जीव विज्ञान विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

तीन कविताएँ

—पंकज चतुर्वेदी

1. आस्था

बचपन में स्कूल से लौटकर घर आता
तो कभी-कभी माँ नहीं मिलती
सामने चाचा के घर में जाकर पूछता
तो छोटी दादी मेरी परेशानी से
प्रसन्न होकर कहतीं :
माँ तुम्हारी चली गयी
किसी के साथ

मैं अचरज में पड़ जाता :
कैसे चली गयी ?

''सड़क पर जो बस आती है
उसमें बैठकर''

मगर माँ आस-पड़ोस में कहीं गयी होती
थोड़ी देर बाद मिल जाती
मेरे इस एहसास को
सत्यापित करती हुई
कि माँ कहीं जा नहीं सकती

इस तरह आस्था मुझे मिली
माँ से

2. जो संवाद होना चाहिए था

एक दिन सहसा उसे
अपने समीप पाकर
मैं सहम गया
सपने में चलते-चलते जैसे
सौन्दर्य मिले

उसने कुछ मुझसे कहा
जिससे बस यही लगा :
उसे कुछ और कहना था
मैंने भी कुछ कहा
मगर यह जानते हुए :
यह उसका उत्तर नहीं
जो वह मुझसे कहना चाहती थी

फिर दूसरी व्यस्तताएँ थीं
जिनमें खो गया हमारा सान्निध्य

जो संवाद होना चाहिए था
उसके लिए ज़रूरी था अनंत दिक्काल

जबकि उत्सव हमारे मिलने की जगह थी
उत्सव ही बिछुड़ने की वजह

3. सज्जा-साधन

विवाह में वरमाला के समय
दूल्हे की वेश-भूषा में
सज्जा के अन्य साधनों के अलावा

उसके कंधे से
लटकता था रिवॉल्वर

यों वह था रोब ग़ालिब करने के वास्ते
मेहमानों या नव-वधू को
डराने के लिए नहीं

मगर उसके कारण
शादी के बाद होने वाले
प्यार की प्रकृति से
भय लगता था

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

तीन कविताएँ

—वंदना राजोरिया

1. एक एकलाप? एक संवाद? शब्दरहित?

एक एकलाप? एक संवाद? शब्दरहित?
क्या आदर्श व्यवस्था होनी चाहिए?
शायद कभी कभी चुप्पी अधिक उपयोगी है
वैसे भी क्या स्थाई अच्छा किया है
इन शब्दों ने आज तक?

आँखें आज तंग बंद,
कान सुनने से मना कर रहे,
उपेक्षित हालात, अनसुने अनुबन्ध,
विकल्प वो जिनकी बस कटौती हो,
खो कर खुद को अज्ञात, अवांछित मार्गों पर
इस अंधी दौड़ में,
देखो चतुर चालों की सारणी में
आज निशान से ऊपर जा रहें हैं हम

बस सब मतभेद बढ़ाने की तुलना है
समय का सर्वोतम मरहम तो
निशब्द 'शांत' ही है,
किस जादूगरी से सब शांत, निर्मल,
स्थिर कर देता है यह भीतर

2. अद्‌भुत परिकल्पना

कितनी सुंदर परिकल्पना है, की अपने मन की सुनो,
करो वो जो दिल कहे, भुला के पूरी तरह से ये दिमाग़।
कितना अद्‌भुत होगा जीना जीवन वैसा जैसी की थी परिकल्पना
चलना उस मार्ग पर निष्कपट जिस पर है वास्तव में श्रद्धा।

आज कुछ प्रश्न मन के, मस्तिष्क के
और उन विकल्पों के जो मैंने चुने इस सफ़र में अब तक।
क्या कर बैठते हैं हम इस जीवन के साथ
यूँ ही बस इसे जीते-जीते।

रात के एक बजे जब बहुत संभावना मेरे सोते पाए जाने की थी
जाने क्यों छोड़ ही नहीं पा रही मैं इन प्रश्नों को
एक सुगबुगाहट है कुछ लिखने की,
कुछ व्यवस्थित करने की, कुछ ठीक करने की।
तय करके विकल्पों, संभावनाओं और प्रश्नों के दौर, उड़ जाने को अनंत आकाश में
बेचैन मैं सोचती हूँ...
एक विचार...
विचार...
विचार पर विचार
कितने तर्क धराशायी होते हैं इधर-उधर

अपने नियम खुद गढ़ो, मन की करो, दिल की सुनो
ताकि छू सको उन ऊँचाईयों को जो छिपी हैं तुममे अब तक
एक बार मिला है मानव तन; जी कर भरपूर बनो सर्वोत्तम,
इच्छाओं का सम्मान उचित है तब तक, पहुँचे नहीं दर्द किसी को तब तक।

उत्साह और ऊर्जा से फूलो,
कर दो विश्व चमत्कृत आभा से,
तोड़ कर हर अवांछित रात्रि के बंधन, दीप्त हो उठो उज्वल सूर्य बन,
जी कर जीवन जोश उमंग से, लगा कर अपनी पूरी ताक़त
ठीक कर लो वो सब जो ठीक करना है।

3. संवाद

संवाद वह है जो आपको अच्छा लगता है,
चिल्लाहट में डूबने के बीच कुछ आराम देता है,
धुन्ध और जल्दबाज़ी के बीच सांत्वना देता है,
ये बाहरी संवाद भी कभी व्यर्थ नहीं जाता
जिसे तुम झूठा दिखावा कह रहे हो
असल में यही जीवन का सार है,
यही व्यक्ति सत्य का अनुपम सौंदर्य है।

संवाद वह है, जिसमें खरी आँखें, अज्ञात सच्चाई के साथ चमकें,
जब जुड़कर भूल जाएँ हम कुछ पल सारी असुरक्षा,
और सारहीन, तुच्छ लगने लगे ये सारी गड़बड़।

शायद कोई ग्लानि नहीं होगी,
गर जड़, मौन हो जाऊँ मैं कल,
आज की इस सुंदर बातचीत के बाद।
एक दिन तुम महसूस करोगे
इसकी अनुपम सुंदरता को
जब बिना किसी धूमधाम या गर्वित दिखावे के
जुड़े थे हम आंतरिक अस्तित्व की डोर से
सदियों की विशालता के साथ कुछ शब्द
कितने गूढ, निर्मल और शांत थे हम
इतने कि हमें तो भान भी न था कि हम थे बनने में सक्षम।

असिस्टेंट प्रोफेसर
अंग्रेजी और अन्य यूरोपीय भाषाएँ विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

ग़ज़ल

—रजनीश यादव

ज़िन्दगी

चन्द हसीन रातों का ख़्वाव है ज़िन्दगी
मुहब्बत मरहम जिसका वो घाव है ज़िन्दगी

एक नशा सा छाये जितना पीता जाये
प्याले में भरी वो शराब है ज़िन्दगी

दर्द कहते रहे लोग लिखते रहे
कोई न पढ़ पाया ऐसी किताब है ज़िन्दगी

यहाँ किसने है जाना, कितना हँसना, कितना रोना
हलक में छुपी सांसों का हिसाब है ज़िन्दगी

असिस्टेंट प्रोफेसर
भौतिक विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सलामत कैसे

—*अकबर सागरी*

फूल काँटों में भी रहकर है सलामत कैसे।
शोला शबनम की हुई दोस्त मुहब्बत कैसे।।

बेवजह रूठ के जाया न करो तुम हमसे।
हम मनाएंगे तुम्हें जान-ए-मुहब्बत कैसे।।

हमने तो सिर्फ इशारों में ही बातें की थी।
जान ली अपनी ज़माने ने हक़ीकत कैसे।।

मैंने तो आशियाँ चाहत का बनाया था मगर।
कर गई बर्क़ मिरे साथ शरारत कैसे।।

बस यही ग़म तिरे 'अकबर' को सताता है बहुत।
दिल से निकलेगी तेरे, दोस्त ये नफ़रत कैसे।।

सूक्ष्म जीव विज्ञान विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' : मूल्यों की लड़ाई में लहुलूहान आस्था

–सी.एल. प्रभात

वसंत पंचमी आती है तो प्रायः हम निराला और उनके प्रदेय को आदर से याद करते हैं, साहित्यिक समाज इसे निराला के जन्मदिन के रूप में मनाता है और एक नये सूर्य (कांत) के उदय के साथ इसे जोड़ देता है, भारतीय धरती के नये श्रृंगार के शुभारंभ का यह दिन सांस्कृतिक दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। एक उल्लेखनीय बात तो यह है कि इसे कहा तो जाता है कि 'श्री पंचमी' पर इस दिन 'श्री' (लक्ष्मी) की नहीं, सरस्वती की पूजा होती है। असल में यह भारतीय राष्ट्र का एक 'सारस्वत पर्व' है, ज्ञान और कला का पर्व, इसकी आत्मा में स्वयं वीणावादिनि बसती है और यह प्रकृति के सर्जनात्मक सौंदर्य का ही नहीं, हमारे सांस्कृतिक मूल्यों का भी अग्रदूत है। पर महाकवि निराला के संदर्भ में एक अजीब बात हुई, उनकी भीतरी भावात्मक जिन्दगी के इस महत्त्वपूर्ण दिन के साथ इतिहास ने उन्हीं के जीवन की एक तारीख और बांध दी– 'माघशुक्ल एकादशी', सन् 1896 में एकादशी के दिन महिषादल में रामसहाय तिवारी के यहाँ एक पुत्र जन्मा नाम रखा गया सुर्जकुमार बाद में सुर्जकुमार की नयी सांस्कृतिक चेतना ने उसे बदल कर सूर्यकांत कर दिया। परिस्थितियों ने उसके बाद 'निराला' उपनाम जुड़वा दिया और जन्म के सुर्जकुमार हिन्दी साहित्य में बनते-बिगड़ते सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' हो गये। ठीक भी हुआ, क्योंकि 'निराला' के अलावा और कोई शब्द इनके लीक से हटे, विकट व्यक्तित्व को रूपायित नहीं कर सकता था। जो हो, ये दो तिथियाँ निराला के जीवन का एक अनिवार्य सत्य बन गयीं। एकादशी भूख का त्योहार है–भूख, व्रत और निराजल-निरशन तप पर त्योहार। इसके विरुद्ध वसंत पंचमी कलात्मक सौंदर्य और मुस्कराहट का पर्व है। इनमें एक तिथि (एकादशी) निराला के जीवन की भौतिक वास्तविकता थी और जीवन भर भौतिक वास्तविकता ही बनी रही। दूसरी, इनकी आस्था और मुक्ति का सपना बन कर इनकी आँखों और लेखनी में समा गयी। एक तन का सत्य रहा, दूसरा मन का और निराला के भीतर बैठे दुर्दम्य रचनाकार की सारी काव्य-यात्रा इस एक अंतहीन एकादशी को 'वसंतपंचमी' में बदलने के लिए समर्पित हो गयी। शायद यही कारण था कि यह महाप्राण कवि फूलों की मुस्कराहट के गीत गाते-गाते उस भदेस 'जड़' को प्रणाम करने लगता था, जो स्वयं जमीन के नीचे पड़ी अंधेरों से इसलिए लड़ती रहती है कि डालियों पर फूलों की मुस्कान मलिन न हो।

आज याद आ रही है सन् 48 की वह वसंत पंचमी, जब हम लोग गये निराला के यहाँ उन्हें प्रणाम करने। मेरा एक दोस्त था गोपीकृष्ण 'गोपेश'। बड़ी प्यारी कविताएँ लिखता था। एक गीत उसका मुझे अभी भी छोड़ता नहीं है—'मुझसे मेरा नाम न पूछो, काम बढ़ेगा काम न पूछो।' वह गोपेश अपने सब काम छोड़ कर मुझे ले गया दारागंज। निराला टूटने लगे थे, बहक जाते थे, पर चिंतन में बहुत विशृंखल नहीं हुए थे...कुछ देर चला-प्रणाम, आशीष, पेड़े और साहित्यिक बातचीत का एक सामान्य सिलसिला। इसी बीच न जाने कैसे फूलचंद्र पांडेय (एक सहपाठी) के मुँह से निकल गया एक शब्द 'आनंद-भवन'। निराला जी चौंक गये, बोले—'भारत की बात करो!' और, बातें करते-करते नीचे बाहर आ गये। शेष पेड़े उन्होंने वहीं एक ठिठुरते फटेहाल लड़के को दिये और खाली हाथ लौट गये। लौटते वक्त हमारा अधूरा प्रणाम भी अधूरा ही रह गया। आज भी लगता है कि वह अधूरा ही है। अथर्वेद में कहा गया है—'सौ हाथों से अर्जित करो हजार हाथों से बाँटो।' निराला इस मंत्र के साक्षात उदाहरण थे। पर, उस दिन जो बात ले कर मैं लौटा वह यह थी—''भारत की बात करो, भारत की। वह 'आनंद-भवन' में नहीं है। वह मधुआ के खेत में, चतुरी चमार की झोंपड़ी में रहता है, निराला भी वही रहता है—असली भारत में।'' उनके साहित्य और जीवन-दर्शन को समझने के लिए यह सूत्र एक बड़ा संकेत है। यह ठीक है कि निराला विशृंखल थे। आवेश के क्षण में अनियंत्रित हो जाते थे और कोई नहीं कह सकता था कि कब उनकी कलम उठ जायेगी या हाथ। और, दोनों में प्रतिरोध की बड़ी शक्ति थी। पर, उनकी विशृंखलता में भी एक मूल्यबोध था, जो कभी विशृंखल नहीं हुआ। मुझे तो उस दिन पहली बार अहसास हुआ कि सेठों के अनुदान से बने 'साहित्यकार संसद' के भव्य भवन की जगह दारागंज की कोठरी उन्होंने क्यों अपनायी। यही दृष्टि थी जिसके कारण अपनी जीवनयात्रा और काव्ययात्रा को यथार्थ की दो भिन्न और विरोधी भूमिकाओं पर न चलाने वाले व्रत को उसने नहीं तोड़ा। जिन्दगी भर कठोर निर्जल व्रतवाली अशनहीन एकादशी में वह जीता रहा, नाटकीय यातनाओं का अभिशाप ढोता रहा, पर डिगा नहीं।

निराला का नाम आते ही अनेक यादें सामने खड़ी हो जाती हैं। विराटता के साक्षात्कार के क्षण बहुत मूल्यवान होते हैं। पर यह कहना बहुत सही नहीं होगा कि मैं कभी निराला जी से मिला था। मिलने बहुत बार गया, पर हर बार जैसे दर्शन करके लौट आया। (लौटा तो नयी दृष्टि ले कर लौटा, खाली हाथ कभी नहीं आया। वे दाता थे।) दूर से लगता था कि वे अकेले हैं 'तुंग शृंग' की तरह, पर वे अकेले थे नहीं, मूल्यों की चेतन दुनिया उनके साथ थी। अभाव उन्हें आकर्षित करता था। सत्ता के 'अहं' से टकराने की उनकी आदत थी। एक तरह से शक्ति और सत्ता के वे सनातन प्रतिपक्ष थे। इस मामले में वे टूटन, घुटन, तनाव, अवसाद के दुर्बल समय में भी किसी को बख्शते नहीं थे। सन् 1954 की बात है। बंबई से इलाहाबाद गया था। कविता और इलाहाबाद से मुझे उन दिनों बेहद प्यार था। यहाँ कोई पूछता कि इलाहाबाद में सबसे

अच्छी चीज क्या मिलती है, तो कह देता–कविता, अगर कविता का ज़िक्र आये तो कह देता इलाहाबाद जाओ। कविता वहीं मिलेगी। पंत, महादेवी, निराला, बच्चन, फिराक जैसे विराट व्यक्तित्व के लोग तब जीवित थे। भारती, सर्वेश्वर जैसे समर्थ रचनाकार उभर रहे थे। अज्ञेय की प्रयोगशाला और नयी कविता का केन्द्र भी वहीं था। उन दिनों मोह था शिखरों को समीप से देखने का। महादेवी वर्मा से मिला और चल दिया निराला के घर की ओर। गुरु जी से तो हम लोग 'फ्री' थे, मेरी पत्नी (विमला) बहुत दिनों उनके पास विद्यापीठ में पढ़ती रही थीं और वे भी बहुत दुलार-प्यार से खिलाती-पिलाती और बतियाती थीं, पर निराला से हमेशा डर लगता था। प्रकाश साथ थीं और गुरु जी ने भी कहा 'जाओ', लेकिन हिदायत दे दी कि 'आजकल उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है, चिंतन के सूत्र जल्दी बिखर जाते हैं।' निराला जी लेटे थे, एक चारपाई पर, चारपाई क्या, खटिया थी। सीलन भरा कमरा, बेहद उदास दीवारें और अंधेरे में डूबता 'सूर्यकांत'। कौंधने लगीं उनकी पंक्तियाँ– 'उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशांधकार!' लगा कि शिल्पी रचनाकार अब स्वयं बिखर रहा है। आगंतुकों की आहट से उन्होंने आँखें खोलीं। लेटे थे, पर हमें देख कर उठ गये। शायद महिला के कारण नीचे एक टाट बिछा था। उस पर बैठे जिज्ञासा से उन्हें देख ही रहे थे कि वे खुद हमारा हालचाल पूछने लगे। गीतों की बात आयी तो मैंने पूछा, 'आपकी दृष्टि में आपके बाद सर्वश्रेष्ठ गीतकार कौन है?' बेहिचक तुरंत बोले–'जानकी वल्लभ शास्त्री'। गहरी थकन साफ झलक रही थी पर स्वर साफ था। जाने क्या हुआ कि सहसा पूछ बैठे–'कहाँ से आ रहे हो तुम लोग?' मेरी कल्पना तो काँप रही थी। पाशो बोलीं–'गुरु जी के यहाँ से! मैं हूँ प्रकाश।' निराला जी की सूनी आँखों में अपरिचय की धुंधलाहट को गहराता देख कर उन्हें एक धक्का लगा। वे समझती थीं कि महादेवी वर्मा के यहाँ अनेक बार मिलने वाला और उनकी सेवा से परिचित महाकवि उन्हें पहचानता है। फिर कुछ संभल कर बोलीं–'निराला जी, मैं हूँ प्रकाशवती। गुरु जी ने, महादेवी जी ने हमें भेजा है आपके दर्शनों के लिए ये हैं...' वाक्य पूरा भी नहीं कर पायी थी कि निराला जी सहसा एक झटके के साथ खड़े हो गये। उदासी काफूर। आँखों के डोरे लाल। यह तो मुझे पता था कि मानसिक रूप से वे स्वस्थ नहीं हैं, पर बीमारी इतनी गंभीर होगी, इसका अंदाज नहीं था। पाशो कुछ कहें-कहें कि निराला जी गंभीर स्वर में पूछने लगे–'किस महादेवी के यहाँ से आये हो?' इस बीच खामोशी का एक छोटा-सा लहमा आया जरूर, पर निराला की कड़कती आवाज रुकी नहीं। वे बोले–'एक महादेवी थी हमारी दोस्त। गीत लिखती थी, भाई कहती थी। एक महादेवी है, जो एसेंबली में बैठी है। उसके बंगले का मुँह राजभवन की ओर मुड़ता जा रहा है। किस महादेवी ने भेजा है तुम्हें?' चुप्पी के अलावा और कोई चारा नहीं था। सन्नाटा बाहर ही नहीं भीतर भी था। समझ काम नहीं कर रही थी, पर अनायास मेरे मुँह से निकल गया–''उन्हीं महादेवी ने जो आपको राखी बाँधती हैं। उन्होंने कहा है कि भाई को मेरा प्रणाम अवश्य कह देना।'' कहते-कहते मैंने एक बार फिर उनके पैर

छू लिये। पाशो बहन जी भी झुक गयीं चरणों की ओर और हमने देखा कि क्षण भर में उनका रोष पिघल कर प्यार बन गया। आप जानते हैं कि प्रणाम का उत्तर तो एक होता है—आशीर्वाद! उसी अभय की स्नेहिल मुद्रा में महाकवि का हाथ उठ गया। उस उदास शाम का यह अमर दृश्य मेरे जीवन की एक अमूल्य निधि है।

सैकड़ों साक्षात्कारों से बड़ा वह (उक्त) क्षण आज भी सामने खड़ा है और बार-बार दोहराता है—'देख कितना बड़ा है यह आदमी, अपने कवि से भी बड़ा! मूल्यबोध के धरातल पर वह अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति को भी क्षमा करने के लिए तैयार नहीं है।

गाँधी जी के वर्ग-समन्वय (शोषक-शोषित के सामंजस्य और पारस्परिक सौहार्द्र) के सिद्धांत को वह 'गांधी का जहर' कहता है क्योंकि यह सिद्धांत 'किसी बिड़ला' का हृदय तो बदल नहीं पाता, गरीब आदमी की क्रांति की चेतना को मूर्छित करता है और कारगर विद्रोह को टालने का अस्त्र बनता है। नेहरू से उसका विरोध इसलिए है कि वे 'बाप की कमाई का पैसा, इंग्लैंड की डिग्री, शोषक जमींदार की मित्रता और पूँजीपति की कार में बैठ कर थानेदार की तरह गाँव में आते हैं और हिन्दुस्तान के खेतों में अंग्रेजी समाजवाद का सपना बोने की कोशिश करते हैं।'

असल में निराला में एक प्रातिभ दृष्टि थी, एक अजीब इतिहास-बोध था जो सामाजिक संघर्ष की तह तक पहुँच सकता था। शोषण और उत्पीड़न की दुर्गंध पहचानने में इनकी सूंघने की शक्ति ने बहुत गलती नहीं की।

आज हम एक गहरे संकट के दौर से गुजर रहे हैं। मानव मुक्ति के नाम पर मामूली आदमी से कहीं ज्यादा शोषण के तंत्र की शक्तियाँ मुक्त हो रही हैं और मुक्ति के मंच के दुरुपयोग में स्वच्छंद हैं। मूल्यांकन का ही नहीं, मूल्यों के निर्णय का अधिकार बाजारों के हाथों में चला जा रहा है। पत्रकार सजग हैं, पर मीडिया घिरा है सत्ता और पूँजी से हर चीज की, यहाँ तक कि सौंदर्यबोध, कलाकृति, संस्कृति, नैतिक प्रतिमान आदि की कीमत भी बाजार तय करता है या राजसत्ता।

ऐसे समय में निराला होने का मतलब हमें समझना चाहिए। वे कवियों के कवि थे (पोइट्स पोइट)। हिन्दी कविता को अधिक सार्थक भूमियों पर ले जाने के लिए अपने बनाये प्रतिमानों को भी तोड़ते रहे। वात्स्यायन ने पुराने प्रतीकों के मैल छुड़ाने का संकल्प लिया था। निराला उससे बहुत पहले समकालीन प्रतीक विधान की रूमानी रूढ़ दुनिया को छोड़ चुके थे। अज्ञेय और नयी कविता वालों के प्रतीक वैयक्तिक और मांसल गंधवाले थे। निराला ने सामाजिक जीवन के व्यापक अनछुए क्षेत्रों को समेटा।

निराला के काव्य के विस्तृत मूल्यांकन का अवसर इस लेख के पास नहीं है। इस समय तो हम इस पायनियर कवि को (जो बहुत-सी परंपराओं का शुरुआती कवि है) उसके जन्मदिन पर याद कर रहे हैं। 'फिनिश' उसमें नहीं है और जो है, उसे पुराना साहित्य-शास्त्र अभी पहचानता

नहीं है। द्विवेदी जी को लिखे एक पत्र में इस भोले भंडारी ने कभी कहा था—'न मैं साक्षर हूँ, न निरक्षर, सिर्फ अक्षर हूँ' आवश्यक है कि निराला में ही नहीं, समूचे साहित्य में और जीवन के इस 'अक्षर' तत्त्व को पहचानना और उसे सम्मानित करना। एक महत्त्वपूर्ण बात और निराला को याद करने का मतलब कि हम साहित्य की अपनी उस जुझारू परंपरा को याद करें, जिसने मूल्यों की लड़ाई में किसी से समझौता नहीं किया, सत्ता और सुख से अनैतिक सम्बन्ध नहीं जोड़े। निराला की एक बहुत बड़ी (और महाकाव्यात्मक) गलती यह थी कि वे एक महायुद्ध को अकेले लड़ने की कोशिश करने लगे। दूधनाथ सिंह ने कहा है कि वे 'एक आत्महंता आस्था' थे। बात काफी सच है, पर ज्यादा सच यह है कि वे 'एक आत्मबलिदानी आस्था थे। निराला का गंभीर और दुखद अवसान आज हमें चेतावनी देता है कि मूल्यों की लड़ाई अकेले-अकेले लड़ कर कभी नहीं जीती जा सकती। सत्ता बहुत चालाक होती है। वह व्यक्ति को हँसाती है, खिलाती है और न मानने पर खरीद लेती है या तोड़ देती है। लेखन व्यक्ति करता है, वह वैयक्तिक माध्यम से जन्म लेता है। इसमें भी शक नहीं कि हर व्यक्ति की एक भीतरी दुनिया होती है जो उसकी निजी होती है पर पूरी तरह एकांत निजी नहीं। व्यक्ति को वैयक्तिकता भी समाज ही देता है। साहित्य के क्षेत्र में आ कर भाषा का प्रयोग करने का अर्थ है किसी अन्य को संबोधित करना और समाज के बन गये माध्यम को स्वीकार कर लेना। निराला जैसे रचनाकारों का जीवन और लेखन बार-बार यही समझाता है कि हम 'कविता में कविता को तलाशने के बजाय' (या साहित्य में साहित्य की लड़ाई लड़ने के बजाय) जीवन के सही सवालों, प्रासंगिक मूल्यों और मूल्यवान संवेदनों को तलाशें...जैसे सुकरात होने का मतलब है 'सत्य के सवाल पर जहर पीने के लिए तैयार रहना' वैसे ही निराला होने का मतलब है—मूल्यों की लड़ाई में लहुलुहान आस्था के साथ भी आखिरी सांस तक खड़े रहना और लड़ना-मनुष्य के लिए, मनुष्यता के लिए।

साभार : धर्मयुग

सामाजिक समरसता के ध्वजवाहक महामति प्राणनाथ

– बी.के. श्रीवास्तव

सामाजिक समरसता रूपी ध्वज पताका को सही मायने में एक व्यवहारिक रूप में समस्त भारत में फहराने का सर्वश्रेष्ठ प्रयत्न महामति प्राणनाथ द्वारा किया गया। वे 'सर्व धर्म समभाव' एवं 'बसूधैव कुटुम्बकम' की अवधारणा के महान पोषक थे। उन्होनें भारत में सामाजिक समरसता रूपी मेह की वर्षा कर अपने मूल नाम मेहराज को सार्थक किया। सत्रहवीं शदी में भारतीय समाज में सामाजिक एवं धार्मिक वैमनस्य व्याप्त था। यह वैमनस्य भारतीय समाज को अंधकार की ओर ले जा रहा था। मेहराज का जन्म इसी दौरान हुआ। उनकी जन्म कुण्डली बनाने वाले पण्डितों ने बताया कि यह कोई साधारण बालक नहीं है। यह भारत के अज्ञानरूपी अन्धकार को दूरकर ज्ञान का प्रकाश फैलायेंगे। इसीलिये इनका नाम मिहिर (सूर्य) राज रखा गया। धीरे-धीरे मिहिर राज से उनका नाम मेहराज हो गया।[1] इनके शिष्यो ने उन्हें प्राणनाथ नाम दिया। इनके सम्प्रदाय के ग्रन्थ प्रकाश हिन्दुस्तानी में बताया गया है कि उन्हें 'महामति' क्यो कहा गया-

श्री धनी जी को जोस आतम दुलहिन, नूर हुकुम बुध मूल बतन।
ए पाँचों मिल भई महामत, वेद कतेबों, पोहोंची सरत।।

स्वामी प्राणनाथ को परमात्मा ने अपना संकल्प, अंश, ज्योति, आवेश एवं बुद्धि प्रदान की। इन पाँच शक्तियों का समावेश होने पर उन्हें 'महामति' कहा गया।

सामाजिक समरसता के क्षेत्र में महामति प्राणनाथ ने अहम भूमिका निभाई। उनकी इस भूमिका का उल्लेख भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने इन शब्दों में किया है।

'महामति' प्राणनाथ का युग राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विघटन का काल था। सत्रहवी शताब्दी में धर्मपारायणता धर्मान्धता में परिणित हो गई थी। धर्म में बढ़ता हुआ बाह्याचर पाखण्ड का रूप लेता जा रहा था। ऊँच-नीच तथा अस्पृश्यता की भावना जोरों पर थी। लोग स्वार्थी एवं इंद्रिय लोलुप हो गये थे। समाज नैतिक पतन की ओर जा रहा था। ऐसे समय में महामति ने अपने व्यवहार और वाणी द्वारा धार्मिक वैमनस्य, अलगाववादी विचारधारा तथा सांप्रदायिक धर्मान्धता का सकारात्मक विरोध किया। जामनगर जैसी समृद्ध रियासत का दीवान पद त्याग कर लोगों के सामने त्याग का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया।'[3]

भारत के एक और पूर्व राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद ने सामाजिक समरसता के

क्षेत्र में महामति प्राणनाथ की भूमिका पर प्रकाश डालते हुये कहा था।

'भारत माता को यह फख्र हासिल है कि इसकी गोद में ऐसे-ऐसे महापुरुषो ने जन्म लिया जिन्होंने कोमी मसावात और भाईचारे को बढ़ावा दिया। ऐसे ही महापुरुषों में थे स्वामी प्राणनाथ। जिस वक्त हमारे मुल्क में मजहबी तअस्सुब और आपसी नफरत ने जोर पकड़ा था उस वक्त स्वामी प्राणनाथ ने बीड़ा उठाया था मजहबी इख्तलाफ को दूर करने का और कोशिश की हर मजहव के लोगों को एक-दूसरे के नजदीक मुहब्बत और मुसावात से लाने की। इन्होने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये बड़ी जद्दोजहद की और अवाम को बताया कि मजहब आपस में नफरत और बैर रखना नहीं सिखाता। वह तो इन्सानियत का पैगम्बर है।'[4]

भारत के पूर्व उपराष्ट्रपति श्री बी.डी. जत्ती ने स्वामी प्राणनाथ द्वारा सर्व धर्म समभाव की प्रतिष्ठा के लिये किये गये प्रयासों को सर्वश्रेष्ठ प्रयास बताया।[5] भारत के पूर्व रक्षामंत्री बाबू जगजीवन राम ने भी कहा है कि-'महामति प्राणनाथ ने समाज में समानता लाने के लिये मानव-मानव में किये जा रहे भेदभाव का विरोध किया। देश विदेश में फैले हिन्दू-मुस्लिम, सिख, जैन, पारसी और ईसाई धर्मो का समन्वय करके एक विश्वधर्म की स्थापना का प्रयास किया।'[6]

उक्त सभी कथन इस तथ्य को प्रस्तुत करते हैं कि महामति प्राणनाथ सही मायने में भारत में सामाजिक समरसता के ध्वज बाहक थे। आइये अब हम यह देखे के किस प्रकार अपने जन्म के पश्चात वह प्रणामी सम्प्रदाय से न केवल जुड़े अपितु उसके प्रमुख बनकर सामाजिक समरसता का भारत में प्रसार किया।

प्रणामी संप्रदाय के प्रवर्त्तक देवचन्द्र थे। इनका जन्म एक कायस्थ परिवार में 11 अक्टूबर 1581 को अमरकोट में हुआ था। इनके पिता का नाम मत्तू मेहता एवं माता का नाम कुँवरबाई था। देवचन्द्र के अनुयायी उन्हें निजानन्द भी कहते थे, इस कारण उनका संप्रदाय निजानंद संप्रदाय कहा जाने लगा। ये अनुयायी एक दूसरे से मिलते समय प्रणाम करते थे, अतः एक अन्य नाम प्रणामी संप्रदाय पड़ गया। देवचन्द्र जी के शिष्य प्राणनाथ इस संप्रदाय के द्वितीय गुरू थे। उनके नाम पर यह संप्रदाय प्राणनाथी संप्रदाय भी कहा जाने लगा। पन्ना को यह अपना धर्म मानने लगे इस कारण केवल पन्ना में रहने वाले प्रणामियों को धामी एवं संप्रदाय धामी संप्रदाय कहने लगे।

स्वामी प्राणनाथ का मूल नाम मेहराज था। इनका जन्म रविवार 6 सितम्बर 1618 ई0 में क्षत्रिय परिवार में जामनगर (काठियावाड़) में हुआ था। इनके पिता का नाम केशव ठाकुर एवं माता का नाम धनबाई था। इनके ज्येष्ठ भ्राता गोवर्द्धन देवचन्द्रजी के परम भक्त थे। उन्ही के अपने लघुभ्राता मेहराज की भेंट देवचन्द्र जी से कराई। इस तरह मेहराज उनके शिष्य बन गये। मेहराज ही बाद में प्राणनाथ कहलाये। उनका विवाह बाईजी के साथ हुआ। देवचन्द्र की मृत्यु (5 सितम्बर 1655) के बाद प्राणनाथ ही प्रणामी सम्प्रदाय के गुरू बन गये। उन्होने समस्त भारत

में घूम-घूम कर अपने संप्रदाय का प्रचार-प्रसार किया। इन्होंने 1678-79 में दिल्ली में रहकर अपने अनुयायिओं सहित वैदिक धर्म एवं इस्लामी धर्म की पारस्परिक समानता एवं उनमें अन्तर्निहित एकेश्वरवाद की अवधारणा का प्रचार-प्रसार किया। स्वामी प्राणनाथ को जब पता चला कि औरंगजेब हिन्दुओं पर जुलम कर रहा है तो उन्होंने उससे मिलकर उसे धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर चलने हेतु समझाने का असफल प्रयास किया। औंरगजेब नही माना तब उन्होंने हिन्दुओं की धार्मिक स्वतंत्रता हेतु प्रयास किये। औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की नीति का विरोध किया। उसी समय स्वामी प्राणनाथ ने छत्रसाल की यश कीर्ति सुनी। वे उनसे मिलने बुन्देलखण्ड आये। 1683 ई0 में मऊ के पास छत्रसाल एवं स्वामी प्राणनाथ की प्रथम भेंट हुई।[7] दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुये। छत्रसाल ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। छत्रसाल उस समय धन की कमी से जूझ रहे थे। स्वामी प्राणनाथ ने पन्ना में हीरे की खदानों की जानकारी देकर छत्रसाल को आर्थिक सुदृढ़ता प्रदान की। उन्होंने छात्रसाल को पन्ना को राजधानी बनाने की सलाह दी और उनका राज्याभिषेक भी करा दिया।[8]

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने कहा है—'छत्रसाल की सेना में राजपूत, कायस्थ, भार, अहीर, ढीमर, वाटी, मेहतर एवं मुसलमान सभी थे। उसके राज्य में सभी जातियों के लोग मान पाते थे। छत्रसाल ने शिवाजी की तरह मुसलमान स्त्रियों के साथ बहू-बेटियों की तरह व्यवहार किया।... ...युद्ध में तथा राज्य शासन में हमेशा न्याय का पक्ष लिया।'[9]

स्वामी प्राणनाथ ने बुदेलखण्ड में औरंगजेब की हिंदू विरोधी प्रतिक्रियावादी नीति की आलोचना की। जनता से आग्रह किया कि वह स्वंतत्रता संग्राम में छत्रसाल का साथ दें। वस्तुतः यह मुस्लिमों का विरोध न होकर धार्मिक स्वंतत्रता की रक्षा के किये 'क्रूसेड' था। यह अन्याय, अनाचार एवं अनीति के विरूद्ध एक आवाज थी। यदि कोई हिन्दू, मुसलमानों की धार्मिक स्वंतत्रता पर आघात करता, तो स्वामी प्राणनाथ उस अनाचारी हिन्दू के खिलाफ भी आवाज उठाते थे। सवर्ण हिन्दुओं के द्वारा हरिजनों पर जो अत्याचार किये जा रहे थे, उसके लिये उन्होंने उनकी भी कठोर आलोचना की। छुआ-छूत एवं जाति-पाति के भेद की स्वामी प्राणनाथ ने घोर निन्दा की।

स्वामी प्राणनाथ ने सामाजिक समरसता एवं सांप्रदायिक सौहार्द प्रसारित करने का बीड़ा उठाया था। उन्होंने भारत में प्रचलित सभी धर्मो का तुलनात्मक अध्ययन किया। इस्लामी दर्शन एवं वैदिक धर्म के तो वह पण्डित ही बन गए। उन्होंने सभी धर्मो का सार मानव मात्र का कल्याण माना। उन्होंने लोगों को समझाया कि मार्ग एवं विधि कुछ भी हो, सभी धर्मो का सार परमात्मा का ज्ञान है। उन्होंने पाया कि धार्मिक आडम्बर, भाषा, परम्परायें, रीति-रिवाज, भक्ति के तौर तरीकों ने विभिन्न धार्मिक मतावलम्बियों के मध्य कटुता उत्पन्न कर दी है।

महामति अच्छी तरह यह समझ चुके थे सभी धर्म के लोगों को उनके अपने धर्म के सिद्धांतों द्वारा ही समझाया जा सकता है। इसीलिये पहले उन्होने वेद, पुराण, उपनिषद, गीता, श्रीमद् भागवत,

कुरान, अंजील, तौरेत, जबूर, बाइबिल, गुरुग्रन्थ साहब, बौद्ध एवं जैन आदि सभी धर्म ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। यहाँ तक कि उन्होने अरब यात्रा भी की। वे इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद, ईसाई धर्म में अन्तर्निहित मानव सेवा की भावना, जैन धर्म के एकांतवाद और स्यादवाद से प्रभावित हुये। हिन्दू धर्म ग्रन्थों से तो वे प्रभावित थे ही। इन सभी धर्म ग्रन्थों में निहित मानव धर्म और समन्वयात्मक सिद्धांतों को महामति प्राणनाथ ने अपनी वाणी कुलजम स्वरूप में दिया है। उन्होने जाति, वर्ण, वर्ग एवं साम्प्रदायिक अहंकार से मुक्त समाज की स्थापना पर विशेष जोर दिया। सामाजिक समरसता उनके चिन्तन एवं प्रवचनो का आधार था। वे पृथक-पृथक धर्मों के लोगो को उनके अपने धर्म के समन्वयादी तथ्यो को सामने रखकर समझाने लगे कि सभी धर्म वस्तुतः एक ही मूल भावना पर आधारित हैं, वह है पारस्परिक प्रेम एवं भाईचारा। उनसे प्रभावित होकर सभी धर्म के लोग उनके अनुयायी बनने लगे। सभी अनुयायियों का रहन-सहन, खान-पान साथ-साथ होता था। इन सभी का आपसी भाईचारा, मिलजुल कर रहना सुन्दर दृश्य प्रकट करता था। उनके अनुयायी 'सुन्दरसाथ' कहलाने लगे।[10] महामति प्राणनाथ के कुलजम स्वरूप में अधिकांशतः उल्लेख सभी धर्मो के मौलिक तत्वो की एकता का ही मिलता है। उन्होने सभी पन्थो (धर्मो) की एक ही मंजिल का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

पंच सारों की एह मजल, अनेक विध वैराट।
ए जो विगत खेल की, सब रच्यो छल को ठाट।।[11]

इन्होंने सभी धर्मग्रन्थों में अन्तर्निहित मानव कल्याण एवं आपसी भाईचारे की भावना को इन शब्दो में सभी के सामने रखा—

वेदान्त गीता भागवत, दैयां इसारतां सब खोल।
मगज मायने जाहेर किये, माहें गुझ हते जो बोल।।
अंजीर, जंबूर, तौरत, चौथी जो फुरकान।
ए मायने मगज गूझ थे, सो जाहेर किये बयान।[12]

वह समझाते है कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख सभी जात अलग भले ही हो, मगर उनका मालिक एक ही है। बंदगी के तरीके भले ही अलग हो मगर बंदगी तो उस एक मालिक की ही करते है। फिर भी यह सभी जातियाँ विवेकहीन होकर परस्पर झगड़ती है। उन्होने इसका उल्लेख इस प्रकार किया—

सब जाते नाम जुदे धर, और सबका खाविद एक।
सबकी बंदगी याही की, पीछे लड़े बिना पाये विवेक।।[13]
सब कहें बजूद एक है, और सब में एकै दम।
सब कहें साहब एक है, पर सबकी लड़ें रसम।।[14]

स्वामीजी ने सभी को समझाया कि संसार में इन सभी धर्मो के अस्तित्व का खेल भी उस

मालिक का रचाया हुआ है। उसके पीछे उसकी इच्छा है कि हम अनेकता में एकता की भावना सीखें। जैसे गाय या अन्य पशु अनेक रंगो के होते है, ऐसा ईश्वर ने विविधता लाने किया है। विविध रंग रूप के होते हुये भी हम सभी को गाय ही कहते हैं। प्राणनाथजी ने कहा है—

कै दीन फिरके मजहब, खेल फिरस्ते दम।
ए खेल किया हुक्में देखने, सब पर एक हुक्म।।[15]

वे कहते हैं रूप पृथक है, नाम पृथक है, जात पृथक है, मगर सभी का मालिक एक है। हम सभी उसी मालिक की सन्तान है। अतः हमे आपस मे लड़ना नहीं चाहिये।

जुदे जुदे नामें गावहिं जुदे जुदे भेष अनेक।
जिन कोई झगड़ो आपमें धनी सबों का एक।।[16]

महामति कहते है कि विश्व का कोई भी मजहब या उनकी धार्मिक पुस्तक द्वेषपूर्ण सिद्धांतो की शिक्षा कदापि नहीं देती। यह तो हमारी अल्पज्ञता है कि हम धर्मग्रन्थों के शब्दों का गलत अर्थ निकाल कर आपस में झगड़ते है।

जिन जानों शस्त्रों में नहीं, है शास्त्रो में सब कुछ।
पर जीव सृष्टि क्यों पावहि, जिनकी अकल है तुच्छ।।[17]

कतिपय स्वार्थी लोग धर्म ग्रन्थो में अन्तर्निहित तथ्यो की गलत व्याख्या कर लोगो के साथ छल करते हैं और आपस में वैमनस्य पैदा करने का प्रयास करते हैं। अतः स्वामीजी सभी धर्म के लोगो से ऐसे स्वार्थी तत्वो से दूर रहने की बात करते थे।

धर्म चर्चा के समय सभी धर्मों के लोगो को प्रत्येक धर्म की वास्तविक जानकारी देने का हर संभव प्रयास करते थे। हर धर्म के व्यक्ति को उसी की भाषा में समझाते थे। इससे वह अत्यधिक प्रभावित होता था। महामति प्राणनाथ अपने अनुयायियों से जब धर्म चर्चा करते थे तब वह स्वयं बीच में बैठते थे। उनके एक ओर उनके शिष्य लालदास एवं दूसरी ओर अन्य शिष्य केशवदास बैठते थे। दोनो शिष्य अपने हाथों में सभी धर्मो के धर्म ग्रन्थ-वेद, शास्त्र, कुरान आदि लेकर बैठते थे।[18] इस तरह, हर तरह की धर्म संगत शंकाओं का महामति प्राणनाथ तर्कसंगत ढंग से तथ्यों की प्रस्तुति के साथ समाधान करते थे।

महामति प्राणनाथ ने भारत में सामाजिक समरसता एवं सर्वधर्म समभाव की स्थापना का जो प्रयास किया उसकी राह आसान नहीं थी। कई धर्म मतावलम्बियो के साथ इस राह पर उनका शास्त्रार्थ हुआ। सत्यमेव जयते की तर्ज पर अन्ततः हर शास्त्रार्थ में महामति की विजय हुई। सबसे बड़ा शास्त्रार्थ सन् 1678 ई. को (विक्रम संवत 1735) में हरिद्वार में हुआ। मौका था हरिद्वार में उस वर्ष आयोजित कुम्भ मेले का।[19] इस कुम्भ मेले में सभी सम्प्रदायो वैष्णव, रामानुज, माधव, निम्बकाचार्य, विष्णु स्वामी दसनामी एवं षड्दर्शन आदि के धर्माचार्य एवं साधू-संत एकत्रित हुये थे। इन सभी धर्ममतावलम्बियो से महामति ने लम्बा शास्त्रार्थ किया। इस शास्त्रार्थ में महामति

को सैद्धांतिक विजय मिली। सभी धर्माचार्यो ने उनके मत को मान्यता देते हुये महामति प्राणनाथ को 'विजयाभिनन्द बुद्ध निष्कलंकावतार' की उपाधि से विभूषित किया।[20] कुलजम स्वरूप के किरंतन प्रकरण में इसका विस्तृत उल्लेख मिलता है।[21] हरिद्वार में जिस स्थान पर उनकी आरती उतारी गई वहाँ आज भी 'बुधजी का चबूतरा' नाम से वह स्थल विख्यात है। उनको प्राप्त इस उपाधि से ही महामति प्राणनाथ का शाका (संवत) या विजयाभिनन्द शाका (संवत) प्रारंभ किया गया।

सामाजिक समरसता के मार्ग में बाधक सभी धर्मो के बीच व्याप्त गलतफहमिया है। यदि किसी भी कौम ने या किसी भी समाज ने यह जान लिया होता कि जो बात कुराने पाक कह रहा है, वही बात हिन्दुओं की गीता भागवत कर रही है, और जो बात गीता भागवत कह रही है वही बात बाइबिल कह रही है, या जो बात बाइबिल कह रही है वही बात गुरुवाणी कह रही है, और यदि सभी धर्मो के ग्रन्थ एक ही बात कह रहे हैं, तो फिर हम सब एक होते और पारस्परिक द्वेष, कलह एवं अशांति नहीं होती।[22] इसीलिये महामति लोगो को बार-बार समझाते है कि जो कुछ कहिया कतेब ने, सोई कह्या वेद।

महामति प्राणनाथ ने बहुत स्पष्ट शब्दों में लोगों को बताया कि वेद एवं कतेब में एकसी ही बातें कहीं गई है। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में चारों वेद, 6 दर्शन, उपनिषद, स्मृति तथा पुराण इत्यादि आते हैं। कतेब पक्ष में तौरेत, अंजील, जंबूर तथा कुरान एवं हदीसें आती हैं। महामति प्राणनाथ के हिन्दू धर्म ग्रन्थों एवं कतेब में अन्तर्निहित समानता का बहू विध वर्णन प्रस्तुत कर लोगो में सर्व धर्म समभाव की अलख जगाई।[23] यह भारत में सामाजिक समरसता बढ़ाने की दृष्टि से अनौखा एवं चिरस्मरणीय प्रयास था।

कतेब के तहत आने वाला कुराने-पाक इस्लाम धर्म का ग्रन्थ है। अंजील, जम्बूर तौरेत का वर्णन बाईबिल में किया गया है। महामति, प्राणनाथ ने हिन्दू धर्म ग्रन्थ गीता, कुरान, बाइबिल एवं श्री गुरुग्रन्थ साहब में आई बातों की समानता लोगो के सामने रखी। इन समानताओं का वर्णन इस प्रकार किया।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में लिखा है-

द्वाविमौ पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च
क्षरः सर्वाणि भूतानि, कुटस्थोऽक्षर उच्यते
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहन।[24]

अर्थात् सर्वप्रथम है क्षर पुरुष, जो सदा बनता और मिटता है। दूसरा है अक्षर पुरुष जो अखण्ड अनादि है और हमारे आप जैसे करोड़ो ब्रह्माण्डों को बनाता और मिटाता है। तीसरा पुरुष 'उत्तम पुरुष' है, वही परमात्मा है।

कुरान में भी तीन पुरुषों का विवरण है जिसे कलमा कहा गया है।

'ला इलाह इलिल्लाह, मुहम्मदर्रसूलुल्लाहि'

अर्थात् ला-इलाह-अल्लाह यह तीन शब्द तीन पुरुषों का विवरण देते है। ला का अर्थ फना हो जाने वाला अर्थात् नाशवान है। इलाह का अर्थ 'सत्य या अखण्ड' है। अल्लाह का अर्थ खुदा, हक या परमात्मा है। इस अल्लाह शब्द को मोहम्मद साहब से जोड़ा गया है।[25]

बाईबिल में तीन पुरुषों का उल्लेख-GOD, CREATOR या TRUTH एवं SUPREME TRUTH GOD के रूप में मिलता है। यहाँ GOD में पहला अक्षर G का अर्थ Generator, O का अर्थ Operator एवं D का अर्थ Destroyer से लिया है। इन तीनों शब्दो को महामति ने हिन्दू धर्म एवं इस्लाम से जोड़ा है। हिन्दू एवं इस्लाम ग्रन्थो में प्रथम 'क्षर पुरुष' तीन बताये गये है। हिन्दूओं के अनुसार तीन क्षर पुरुष ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश है। इस्लाम के अनुसार 'ला' के अन्दर तीन पुरुष मैकाइल, अजाजील एवं अजराइल हैं। अब ईसाई, हिन्दू एवं इस्लाम धर्म के प्रथम क्षर पुरुष का तुलनात्मक अध्ययन करें तो देखते है कि हिन्दुओ का ब्रह्मा, कुराने पाक का मैकाइल Generater अर्थात् बनाने का कार्य करते हैं। हिन्दुओ का विष्णु, कुराने पाक के अजाजील, Operator अर्थात् पालन-पोषण का कार्य करते हैं। हिन्दुओं के महेश (शिव) एवं कुराने पाक के अजराइल Destroyer अर्थात् नाश या मिटाने का कार्य करते है।

विष्णु अजाजील फिरस्ता, ब्रह्मा मैकाइल।
जबराइल जोश धनीय का, रुद्र तामस अजराइल।।
मलकूत कह्या बैकुंठ को, मोहतत्व अँधेरी पाल।
अक्षर को नूर जलाल, अक्षरातीत नूरजमाल।।[26]

इस प्रकार बाईबिल के GOD का अर्थ हुआ 'क्षर' पुरुष जिसमें तीनो का विस्तार छिपा हुआ है। हिन्दुओ के 'क्षर पुरुष', मुसलमानों के 'ला' पुरुष ही बाईबिल के गॉड हैं।[27]

बाईबिल में दूसरे पुरुष को CREATOR या TRUTH कहा गया है। कुरान में इसे 'इलाह' अथवा नूरजाल कहा गया है। हिन्दुओ ने इसे 'अक्षर' अथवा अखण्ड पुरुष कहा गया है। बाईबिल में तीसरा पुरुष SUPREME TRUTH GOD है। कुरान में इसे अल्लाह एवं हिन्दुओं ने इसे उत्तम पुरुष यानि परमात्मा कहा है।

इसी तरह सिक्खों की गुरुवाणी 'श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' में गुरु नानक ने लिखा है—

'क्षर से परे अक्षर से पारा, वाहि पुरुष का करो विचारा'
नानक एकौ सिमरिए, जनम मरन दुख जाए।
दूजा काहे सिमरिए, जन्मिये और मर जाए
परम पुरुष का हूँ मैं दासा देखन आयो जगत तमासा।'

हिन्दू, मुसलिम, ईसाई धर्म ग्रन्थो की ही भांति सिक्ख धर्म ग्रन्थ में भी क्षर, अक्षर तथा परम पुरुष तीन पुरुषों का उल्लेख मिलता है।[28]

इसी प्रकार उक्त सभी धर्म ग्रन्थो में परमात्मा के पृथ्वी पर अवतार की बात भी समान

रूप से कही गई है। हजरत मोहम्मद साहब ने कहा था कि अल्लाह तआला इमाम मेहदी के रूप में फर्दारोज को आयेगे।[29] हिन्दू धर्म ग्रन्थो में कलयुग में कल्कि अवतार की बात कही गई हैं। गीता में भी कहा गया है कि साधुओं के त्राण के लिये, दुष्टों के विनाश के लिये प्रभु अवतार लेगे। बाईबिल में भी कहा गया है कि–'जो कोई इस व्यभिचारी और पापी जाति के बीच मुझसे और मेरी बातो से लजायेगा, मनुष्य का पुत्र भी जब वह पवित्र दूतों के साथ अपने पिता की महिमा सहित आयेगा, तब उससे भी लजायेगा।[30]

सिक्ख धर्म ग्रन्थ में भी लिखा है–

बीतेगा उन्नतालिसा, लगेगा चालीसा
होएगा कोई मर्द मर्द दा चेला
नानक कहे दिखावी मुझे सत्त-सत्त दी बेला।[31]

इस तरह गुरुवाणी में भी अवतार की पुष्टि की है।

इस प्रकार महामति प्राणनाथजी ने सभी धर्म ग्रन्थों की विस्तृत व्याख्या कर लोगो को बताया कि सभी ग्रन्थ, एक ही बात करते हैं। इससे स्पष्ट हैं कि हम सभी को आपस में हिल मिल कर रहना चाहिये। हमें वसुधैव कुटुम्बकम की अवधारणा का पालन करना चाहिये।

उस समय सर्वाधिक कटुता हिन्दू एवं मुस्लिमों के मध्य व्यात थी, वे दोनों ही कौमों को समझा कर उनके बीच धार्मिक कटुता को समाप्त करने दृढ़ प्रतिज्ञ थे। प्रणामी संप्रदाय ने मूर्ति पूजा के स्थान पर अपने धर्म ग्रन्थ 'कुलजम' की पूजा आंरभ की। इस ग्रन्थ को 'तारतम्य सागर' भी कहा जाता है। यह स्वामी प्राणनाथजी की वाणियों एवं उपदेशों का संकलन है। स्वामी प्राणनाथ कई भाषाओं ज्ञाता थे। स्वामी जी जिस भी प्रान्त में जाते थे यथा सम्भव उस प्रदेश की भाषा में ही उपदेश देते थे। इसी कारण कुलजम ग्रन्थ में विभिन्न भाषाओं- सिंधी, गुजराती, हिन्दी आदि में उनके उपदेश दिये गये है। फारसी शब्दों एवं मुहावरों का भी यथा सम्भव उपयोग किया गया है। कुलजम में 14 ग्रन्थ है–

1. रास
2. प्रकाश (गुजराती, हिन्दुस्तानी)
3. पटऋतु
4. कलस (गुजराती, हिन्दुस्तानी)
5. सनंध
6. किरंतन
7. खुलासा
8. खिलवत
9. परकरमा
10. सागर
11. सिंगार
12. सिंधी
13. मारफतसागर
14. कयामतनामा

भाषा की समस्या का समाधान स्वामी प्राणनाथ ने 300 वर्ष पूर्व ही कर दिया था। उनका मानना था कि हम क्षेत्रिय स्तर पर भले ही प्रथक भाषायें बोले मगर हिन्दी एवं हिन्दुस्तानी ही

भारत के लिये सरल है। वही समस्त देश में बोली जाने वाली सबसे बड़ी भाषा है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा माना। अपनी इस बात को उन्होने इन शब्दों में रखा है–

सबको प्यारी अपनी, जो है कुल की भाषा।
अब मैं कहूँ भाषा किनकी, यामें भाषा तो कई लाख,।।
बोली जुदा सबन की, और सबका जुदा चलन।
सब उलझें नाम जुदे धर, पर मेरा तो कहना सबन ।।
बिना हिसाब बोलियाँ मिलें सकल जहान।
सबकों सुगम जानकें, कहूँगी हिन्दुस्तान।।
बड़ी भाषा ये ही भली, सो सब में जाहेर।
करने पाक सबन को, अंतर महि बाहेर।।[32]

स्वामी प्राणनाथ के दोहों एवं छन्दों में वे स्वयं के लिये स्त्रीलिंग का प्रयोग करते थे। इसका कारण यह था कि वे परमात्मा को पति मानकर सखी भाव से परमात्मा की उपासना करते थे। इसीलिये तो उपर कहूँगा हिन्दुस्तान के स्थान पर कहूँगी हिन्दुस्तान लिखा गया।

इस समय हिन्दू-मुस्लिमों के बीच अधिक द्वेष व्याप्त था अतः दोनों ही कोमों को इन शब्दों को समझाने में प्रयास किया है–

हम देखी दिल माहि विचारी, सब कुरान में बात हमारी।
समझे अरथ बचन सुन मेरे, खोला नैन दिल अन्दर केरे।।
जो कतेब सो बेद बताई, या में अन्तर नाहिन भाई।
येक धनी साहिब सब फेरों, दूजो मानि चित्त जिन फैरौ।।
हिन्दु तुरक दीन दो गायें, तिन मिल के दोय पंथ चलाये।
खेंचा खेंच जगत में होई, एक अरथ मिल कहतान कोई।।
अब मैं बेद कतेब मिलाऊँ, तिनके अरथ एक ठहराऊँ।
मेटि विरोध जगत जस लेऊँ, एक राह परगट कर देऊँ।।[33]

कुलजम के खुलासा प्रकरण 12 में भी स्वामी प्राणनाथ ने हिन्दू-मुस्लिमों को समझाते हुये लिखा है।

जो कुछ कह्या कतेब ने, सोई कहया वेद।
दोऊ बंदे एक साहिब के, पर लड़त बिना पाये भेद।।42।।

इसी प्रकरण में एक अन्य स्थान पर वे लिखते है–

नाम सारों जुदा धरे लई सबों जुदा रसम।
सब में उमत और दुनिया, सोई खुदा सोई ब्रहम।।28।।

स्वामी प्राणनाथ कबीर, नानक एवं महाराष्ट्र के संतो के विचारों से प्रभावित थे। कुलजम

के प्रकरणों में इसका संकेत स्पष्टतः देखा जा सकता है। स्वामी प्राणनाथ ने धार्मिक आडम्बरों का घोर विरोध किया है। ह्दय की पवित्रता एवं सदाचार को वे ढ़ोंगी ब्राह्मणों से महत्वपूर्ण मानते थे। कलस प्रकरण के 15 में वह पूछते हैं, कि अछूत, अस्पृश्य कौन है? वह शूद्र या चंडाल जिसका ह्दय पवित्र, निर्मल एवं स्वच्छ है। अथवा वह ब्राह्मण जो सांसारिक भोगों में लिप्त होकर लोगों को छल रहा है?

एक भेष जो विप्र का दूजा भेष चंडाल।
जके छुये छूत लागे, तॉकें संग कौन हवाल।।
चंडाल हिरदें निरमल, संग खेले भगवान।
दिखावे नही काऊ को, गोप राखे नाम।।
अंतराये नही खिनकी, सनेह सॉचो रंग।
रात दिन नजर रूह की, नही वजूद सौ संग।।
विप्र भेष बाहर दृष्टि, खट कर्म वाले वेद।
स्याम खिन सुपने नहिं, जाने नही ब्रह्म भेद।।
डदर कुटुम कारने, उतमाई देखावे अंग।
व्याकरण बाद विवाद के अरथ करें कै रंग।।
अब कहो काके छुऐ, अंग लागे छोत।
अधमनम विप्र अंगे, चंडाल संग उद्दोत।।[34]

कबीर की भाँति स्वामी प्राणनाथ ने अनीति की राह पर चल रहे हिन्दू-मुसलमानों को भी नही बख्शा। उन्होंने स्पष्ट कहा कि कपटी, दुराचारी लोग, नेक दिल मोहम्मद साहब पर निष्ठा रखने वाले सच्चे मुसलमान कैसे हो सकते है–

जो अंदर झूठी बंदगी, देखलावे बाहेर।
तिनको मुस्लिम जिन कहो, वह ख्वादीम जाहेर।।[35]

प्राणनाथजी ने सच्चे मुसलमान की पहचान बताते हुये लिखा है–

रेहवे निर्गुन होए के, और निर्गुन खान-पान
नजीक न जाये बद फैल के, या दीन मुसलमान।।[36]

प्राणनाथजी उन सवर्ण हिन्दुओं को भी कहीं बख्शते जो निम्नवर्ग के साथ छुआ-छूत की भावना रखते है वे लिखते है–

हाथ-पाव मुख नेत्र नसिका, सोई अंग के संग छूत तिन लगाई घर को, प्यार था जिके संग।।[37]

इस प्रकार स्वामी प्राणनाथ जी एक ओर से अनाचारी, पाखंडी, जुल्मी हिन्दू-मुसलमानों को सही रास्ते पर लाने की शिक्षा देते हैं, तो दूसरी ओर हिन्दू एवं मुसलमानों को आपस में एकता बनाये रखने हेतु प्रेरित भी करते है वह दोनों ही कौमों को समझाते हुए कहते है–

ब्राह्मण कहें हम उत्तम, मुसलमान कहें हम पाक।
दोऊ मुठी एक ठौर की, एक राख दूसी खाक।।[38]

स्वामी प्राणनाथ जी चूँकि परमात्मा को पति के रूप में पूजते हैं अतः उन्हें वह कहीं कहीं खसम भी कहते हैं। उनका लोगों को संदेश था कि हिन्दू-मुसलमान, उच्च वर्ग-निम्न वर्ग सभी एक ही परमात्मा (खसम) के बन्दे हैं, और लोगों ने इस एक महत्वपूर्ण तथ्य को न समझ कर दूसरा तथ्य भेद-भाव, कौम, ऊँच-नीच को प्रसारित कर दिया है। वह कहते है–

जात एक खसम की, और न कोई जात।
एक खसम एक दुनिया, और उड़ गई दूजी बात।।[39]

इस तरह स्वामी प्राणनाथ ने बुन्देलखण्ड की जनता को सांप्रदायिक सौहार्द, सामाजिक समरसता, वर्ग विहीन समाज, एकेश्वरवाद का पाठ पढ़ाया। स्वामी जी के वक्तव्यों, कर्म, एवं समझाइश ने आम जनता के मन में उत्साह का संचार किया। उनके अनुयायियों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी। वे मात्र बुन्देलखण्ड तक ही सीमित नहीं रहे। स्वामी प्राणनाथजी ने कठ़ियावाड़, सिंध, कच्छ के अलावा फारस की खाड़ी स्थित बंदर अब्बास, राजपूताना, एवं उत्तरी व मध्य भारत में भी अपने संप्रदाय का प्रचार-प्रसार किया।[40] कुलजम के अलावा प्रणामी संप्रदाय का एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ बीतक है। इसे इतिहास कहा जाता है। इसमें भी देवचन्द्र एवं स्वामी प्राणनाथजी की जीवन लीलाओं का वर्णन करते हुये प्रणामी संप्रदाय के सिद्धातों की व्याख्या की गई है। तत्युगीन ऐतिहासिक घटनाएँ एवं राजाओं के नाम भी इन बीतकों में यत्र तत्र प्रसंगवंश मिलते हैं। प्रणामी संप्रदाय की भारत में फैली विभिन्न शाखाओं द्वारा उनके ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया गया है।

प्रोफेसर
इतिहास विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

संदर्भ :

1. कमला शर्मा, धर्म समन्वय उद्‌गाता : महामति प्राणनाथ, श्री प्राणनाथ मिशन, नई दिल्ली,1993, पृ. 5
2. प्रकाश (हिन्दुस्तानी), 37/95
3. शंकर दयाल शर्मा, 'महामति प्राणनाथ' महामति प्राणनाथ जागनी संचयन, अंक 20-21, वर्ष 1994-95, श्री प्राणनाथ मिशन, नई दिल्ली, पृ. 1
4. वही, पृ. 6
5. वही, पृ. 10
6. वही, पृ. 11
7. भगवानदास गुप्त, बुन्देल केसरी महाराजा छत्रसाल बुन्देला, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2004, पृ. 88
8. वही, पृ. 89
9. जगनी संचयन, पूर्वोक्त, पृ. 4-5

10. धर्म समन्वय उद्‌गाता : महामति प्राणनाथ, पूर्वोक्त, पृ. 20
11. कलश हिन्दुस्तानी, 15/17
12. खुलासा, 13/96,97
13. वही, 2/22
14. वही, 10/12
15. सनंध, 38/13
16. वही, 41/72
17. किरंतन, 73/26
18. धर्म समन्वय उद्‌गाता : महामति प्राणनाथ, पूर्वोक्त, पृ. 20
19. वही, पृ. 6
20. वही, पृ. 13
21. किरंतन, 56/11 से 15
22. जगदीश चन्द्र, निजानन्द दर्शन, निजानन्द आश्रम, रतनपुरी, पृ. 104-115
23. ओम प्रकाश भगत, सचिदानन्द स्वरूप, निजानन्द आश्रम ट्रस्ट, रतनपुरी, पृ. 3
24. गीता, 15/16
25. सचिदानन्द स्वरूप, पूर्वोक्त, पृ. 3
26. खुलासा, 12/45,51
27. सचिदानन्द स्वरूप, पूर्वोक्त, पृ.4
28. वही, पृ.13
29. वही, पृ.5
30. MARK,8:38, p139
31. सचिदानन्द स्वरूप, पूर्वोक्त, पृ.15
32. महाराजा छत्रसाल बुन्देला, पूर्वाक्त, पृ. 91
33. हसंराज बख्शी, मेहराज चरित्र, पृ. 172-73
34. महाराजा छत्रसाल बुन्देला, पूर्वाक्त, पृ. 94
35. कुलजम, संनध प्रकरण, 21, दोहा 35
36. वही, दोहा 29
37. वही, प्रकरण 16, दोहा 13
38. वही, प्रकरण 40, दोहा 42
39. वही, दोहा 17
40. महाराजा छत्रसाल बुन्देला, पूर्वाक्त, पृ. 87

स्मृतियों का सृजनात्मक पुनर्जन्म : नायब साहब

—आशुतोष

प्रत्येक मनुष्य में अन्तहीन जिजीविषा होती है। इसी कारण अमरत्व की आकांक्षा मनुष्य के अन्तरतम में निगूढ़ रहती है। परन्तु विडम्बना यह कि मनुष्य सशरीर अमर नहीं हो सकता। फिर भी, ऐसा नहीं कि वह इस विडम्बना को दूर ही नहीं कर सकता। मनुष्य के लिए प्राकृतिक रुप से अमरत्व पाना भले ही सम्भव न हो, लेकिन वह ऐतिहासिक अमरत्व को अवश्य प्राप्त कर सकता है। ऐतिहासिक अमरत्व का मतलब किसी व्यक्ति को स्मृतियों में पुनर्जन्म प्रदान करना है।

—अम्बिकादत्त शर्मा

उपरोक्त बातें इतिहासकार डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव द्वारा लिखित पुस्तक 'नायब साहब' के पुरोवाक में ख्यात दार्शनिक एवं चिन्तक प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा ने कही हैं। एक प्रकार से यह पुरोवाक 'नायब साहब' पुस्तक लिखे जाने का वैचारिक एवं दार्शनिक बुनियाद है। 'नायब साहब' पुस्तक लेखक डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव के पिता श्री रामभरोसे श्रीवास्तव की जीवनी है। किताब की भूमिका में डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव ने लिखा है कि ''नायब साहब', एक कर्मठ, उत्साही, आत्मविश्वासी एवं जीवन के प्रत्येक मोर्चे पर सफल व्यक्ति की जावनगाथा है। एक छोटे से ग्राम बागबई के गरीब परिवार का बालक जिसके पिता बचपन में ही गुजर गए कैसे अपनी माता का आशीर्वाद एवं बड़े भाई के लालन-पालन में पढ़ा-बढ़ा, उसकी संघर्षपूर्ण कहानी है-नायब साहब।''

श्री रामभरोसे श्रीवास्तव जी की पहली नियुक्ति रेवेन्यू इन्सपेक्टर सेटिलमेंट पर हुई थी। पदोन्नति पाकर लम्बे समय तक नायब तहसीलदार पद पर रहने के कारण लोग उन्हें 'नायब साहब' कहने लगे थे। जबकि वे समय के साथ अधिक्षक भू अभिलेख, मुख्य कार्यापालन अधिकारी जनपद पंचायत, डिप्टी कलेक्टर से होते हुए सब डिवीजनल मजिस्ट्रेट के पद से सेवानिवृत हुए, फिर भी वे अपने चाहने वालों के लिए हमेशा 'नायब साहब' ही रहे। पद बदलते ही 'नेम प्लेट' बदल लेने वाले इस प्रदर्शनप्रिय समय में सब डिवीजनल मजिस्ट्रेट श्री रामभरोसे श्रीवास्तव जी का 'नायब साहब' बने रहना पद के बरक्स मनुष्यता को गरिमा प्रदान करने की कथा है। ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव ने उस कथा की ऐतिहासिक अमरता के लिए स्मृतियों में पुनर्जन्म प्रदान करने

की, जीवनी विधा के शिल्प में सृजनात्मक कोशिश की है।

'जीवनी' को अंग्रेजी में 'लाइफ' या 'बायोग्राफी' कहा जाता है। संस्कृत में इसके लिए 'जीवन-चरित्रम' शब्द का प्रयोग होता है। जीवनी शब्द आधुनिक युग में प्रचलित हुआ और भारतेन्दु युग में इसे स्वतंत्र विधा के रूप में मान्यता मिली। आमतौर पर व्यक्ति-विशेष के जीवन वृतांत को जीवनी कहा जाता है। जीवनी का यह 'व्यक्ति-विशेष' ही जीवनी का 'चरित-नायक' होता है। यह एक तरह से व्यक्ति विशेष के जीवन का कलात्मक इतिहास है। इसमें जीवन भी होता है और चरित्र भी। अर्थात जीवन की स्थूल घटनाओं और चरित्र की आन्तरिक विशेषताओं का समुच्चय ही जीवनी है।

जीवनी व्यक्ति-विशेष के जीवन से सम्बन्धित होने के बावजूद वह न तो जीवन की प्रत्येक घटनाओं का स्थूल ब्यौरा है और नही शुष्क इतिहास। जीवनी व्यक्ति-विशेष के जीवन का गत्यात्मक व जींवत दस्तावेज है। जैसे-जैसे मानवतावादी मूल्यों का महत्व बढ़ा, वैसे-वैसे इस धारणा का विकास हुआ कि प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ खास गुण होते हैं; इसलिए अब व्यक्ति को मनुष्य व्यक्तित्व के रूप में समझने की भावना की शुरूआत हुई। इसी के चलते जीवनी साहित्य का जन्म हुआ। जीवनी साहित्य का मूल प्रेरणा है कि 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किचिंत्', अर्थात मनुष्य से बढ़ कर कुछ भी नहीं है। अतः जीवनी साहित्य का प्रत्येक पृष्ठ मनुष्य की जिजीविषा, अनुभूति, विचार और कर्म का प्रकाशन होता है। जीवनी में मनुष्य-सत्य के माध्यम से जगत-सत्य का उद्‌घाटन होता है।

जीवनी लेखन एक सतर्क कार्य है। थोड़ी सी चूक से जीवनी कसीदा (प्रशंसा) या उपहास में बदल सकती है। इसलिए जीवनी लेखक व्यक्ति-विशेष के जीवन को भली-भांति अन्वेशित करता है। वह जीवन को स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत करता है। भावुकता और कल्पना से प्रभावित जीवनी अस्वाभाविक और अतार्किक हो जायेगी। वास्तविक जीवनी वही है जिसमें तथ्यों के अन्वेषण में और उन्हें प्रस्तुत करने में विशेष ध्यान रखा जाय। प्रामाणिक तथा सम्यक जानकारी जीवनी को विश्वसनीय और महत्वपूर्ण बनाते हैं। जीवनी में वर्णित घटनाओं को उसी क्रम में रखा जाता है जिस क्रम में वे चरित नायक के जीवन में घटित हुयी हों। इसके लिए जीवनी लेखक अपने चरित नायक के जीवन का यथातथ्य जानकारी हासिल करता है। जीवनी में चरित नायक के देश-काल व परिस्थितियों का सामाजिक-ऐतिहासिक वर्णन भी अपेक्षित होता जिससे कि उसके व्यक्तित्व निर्माण के कारकों का पता चल सके। इस तरह कहा जा सकता है कि जीवनी किसी व्यक्ति के जीवन का लेखा-जोखा मात्र नही है, वह उसके जीवन के साथ ही सामजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों का एक कलात्मक रूप होता है।

इस लिहाज से देखा जाय तो ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव ने 'नायब साहब' पुस्तक के माध्यम से जीवनी विधा के साथ न्याय किया है। एक जीवनी लेखक को जीवनी लिखने के लिए व्यवस्थित

तैयारी की जरूरत होती है। जो इस पुस्तक में दिख रही है। जिसके बारे में ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव ने भूमिका में स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने अपने लेखन की आधार सामग्री पिताजी के बारें में खुद की और परिजनों की स्मृतियों को बनाया है। उनमें सबसे महत्वपूर्ण सामग्री स्वयं नायब साहब द्वारा अपने जीवन के सन्दर्भ में लिखी गयी डायरी रही है। जिसके कारण यह जीवनी प्रमाणिक और जीवंत बन गयी है, जो जीवनी विधा का आवश्यक गुण-धर्म है।

पुस्तक मे नायब साहब की ज़ीन्दगी को विभिन्न शीर्षकों में दर्ज किया गया है। जिसमें नायब साहब के जन्म, जन्मभूमि बागबई, नौकरी के दौरान विभिन्न स्थानों पर हुई पोस्टिंग, कस्बों, शहरों, व्यक्तियों, उनकी कार्य-शैली के लेखा-जोखा का है। नायब साहब के बहाने उन जगहों के भी भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा पर्यटन के महत्व को उजागर किया गया है। जिसमें बागबई, शिवपुरी, राजगढ़-खिलचीपुर, बैराड़, कोलारस, राघोगढ़, गुना जैसे मध्यप्रदेश के कस्बे अपनी पूरी धज के साथ आये हैं। एक तरह से यह किताब नायब साहब के साथ-साथ इन जगहों की भी जीवनी है। नायब साहब की जन्मस्थली बागबई की भौगोलिक अवस्थिति बताते हुए डॉ. ब्रजेश श्रीवास्तव उसके ऐतिहासिक महत्व को भी रेखांकित करते चलते हैं। जिनमें उनका इतिहासकार व्यक्तित्व प्रखर हो उठा है। वे भवभूति से लेकर विष्णु पुराण से होते हुए प्रख्यात इतिहासकार डॉ. के.पी. जायसवाल के हवाले से बागबई का सम्बन्ध वे प्राचीन नगर पद्मावती से बताते हैं। इसी तरह नायब साहब की प्रमुख कर्म स्थली शिवपुरी का जिक्र वे उसके ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक स्थलों के साथ करते हैं। शिवपुरी में प्रमुख स्थलों में छत्री, वाणगंगा, भदैया कुण्ड, चाँदपाठा झील, माधव राष्ट्रीय उद्यान, सिद्धेश्वर मंदिर, भूरा खोह जैसे महत्वपूर्ण दर्शनीय स्थानों का उन्होंने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। डॉ. ब्रजेश श्रीवास्तव ने नायब साहब के जीवन को गहरी आस्था और निष्ठा के साथ उकेरा है। नायब साहब का जीवन, संघर्ष और श्रद्धा का मिसाल था। उनके जन्म के कुछ दिन पूर्व ही पिता की मृत्यु हो गयी थी। बाद में बड़े भाई श्री गंगाराम श्रीवास्तव ने रामभरोसे श्रीवास्तव का पालन-पोषण किया। यही रामभरोसे श्रीवास्तव अपने लगन और परिश्रम से नायब साहब के नाम से प्रसिद्ध हुए।

नायब साहब का पूरा जीवन एक कर्मवीर साधक का जीवन रहा है। जीवन में वे जिस भी मुकाम पर पहुँचे वह सब उनका अर्जन था। इसीलिए नायब साहब के भीतर अपनी सफलता और प्रसिद्धि को लेकर कभी अहं भाव नहीं आया, बल्कि सफलता और प्रसिद्धि ने उन्हें और अधिक विनम्र बना दिया, किसी संत की तरह। नायब साहब का विवाह, बच्चे, बच्चों की पढाई-लिखाई, बच्चों की शादी, नौकरी के दौरान जगह-जगह स्थान्तरण, नौकरी के दाव-पेंच, पदोन्नति के समय बिघ्नसंतोषियों की करतूतें, अधिकारियों का प्रेम और सख्ती आदि प्रसंगों को रोचक ढंग से डॉ. ब्रजेश श्रीवास्तव ने इस पुस्तक में दर्ज किया है। इसमें खास बात यह है कि जीवन के तमाम सुख-दुःख के प्रसंगों में नायब साहब का धैर्य उनको एक प्रेरक व्यक्तित्व में बदल देता

है। सुख में वे प्रमाद में नहीं आते थे, वैसे ही दुःख के समय वे धीरज का दामन कभी नहीं छोड़ते थे। नायब साहब के आदर्शवादी, कर्मयोगी एवं आस्तिक जीवन को लेखक ने बहुत ही प्रमाणिकता के साथ चित्रित किया है। नायब साहब के जीवन के धूप-छांव और उनमें निर्मित हुए उनके व्यक्तित्व के सन्दर्भ में लेखक ने लिखा है कि 'श्रीवास्तव साहब का जीवन भी किसी संघर्ष से कम नहीं रहा। गरीबी क्या होती है?, परेशानियां क्या होती हैं?, बीमारी क्या होती है?, बच्चों की नौकरी न लगने का गम क्या होता है?, बच्ची की शादी करना कितना बड़ा काम होता है?, ईमानदार आदमी पर भ्रष्टाचार के आरोप लगे तो उस पर क्या बीतती है?, सभी को साथ लेकर चलने में कितनी परेशानियां आती हैं?, अपने मकान पर कोई कब्जा कर ले तो कैसा लगता है?, बच्चे दूर रहें एवं घर में अकेले रहने का दर्द क्या होता है?, नेताओं के दबाव में नौकरी करना कितना मुश्किल होता है?, भ्रष्ट अफसरों के अधीन ईमानदारी से कार्य करना कितना मुश्किल होता है?, न जाने ऐसे कितने प्रश्नों एवं समस्याओं में उलझे रहने के बावजूद भी श्रीवास्तव साहब कभी हताश नहीं दिखे। चूँकि सत्य उनके साथ था एवं सत्य की ताकत का उन्हें अहसास भी था।'

पुस्तक के आखिरी हिस्से में माता-पिता की शादी की पचासवीं वर्षगांठ पर परिवार जनों द्वारा लिखे गये पत्रों को दिया गया है। जिसे पढ़कर प्रख्यात आलोचक विचारक रामविलास शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक 'अपनी धरती अपने लोग' की बरबस याद आ जाती है। परिवार केवल भौतिक सच्चाई मात्र नहीं है बल्कि यह नेह-छोह का रागात्मक ताना-बाना भी है, यह उन पत्रों को देखकर विश्वास हो जाता है। श्रीवास्तव साहब और श्रीमती श्रीवास्तव जी के विवाह के पचास वर्ष हो चुके थे। उनके पुत्रों, पुत्र-बधुओं और पौत्रों-पौत्रियों ने इस अवसर को अविस्मरणीय बना दिया। सभी ने नायब साहब और उनकी पत्नी के नाम अपने हिस्से की बधाई पत्र लिख कर प्रेषित किया। जिसमें पुत्रबधुओं द्वारा अपनी सास-ससुर को इस अवसर पर याद करना बहुत मार्मिक है। भारतीय सास के बारे में कहा जाता है कि वह पढ़ती है रामायण और करती है महाभारत, किन्तु भारतीय सास-बहू के पारम्परिक मुहावरे के उलट नायब साहब और उनकी पत्नी का अपने बहुओं के साथ का यह रिश्ता परिवार और सम्बन्धों के प्रति अनुराग जगा देता है। नायब साहब का पौत्र सौम्यदीप अपने दादा-दादी को लिखे पत्र में अपनी दादी को याद करते हुए लिखता है कि 'आई लाइक माई ग्रैन्डमां, आई लाइक हर स्माइल', अपनी बुनावट में छोटे-छोटे ये दो वाक्य दुनिया की सबसे शानदार कविता की तरह हैं। एक छोटा सा बच्चा अपनी दादी की मुस्कराहट को पसन्द करता है। माँ की मुस्कराहट पर अनेकों कविताएँ लिखी गयी हैं, पर दादी की मुस्कुराहट पर एक बच्चे द्वारा मेरे देखे सम्भवत यह पहली पंक्ति है। पंक्ति क्या महावाक्य ही है। सौम्यदीप अभी बच्चा है। उसका दुनियादारी से वास्ता नहीं पड़ा है। इसलिए वह दादी की मुस्कुराहट को देखता है और उसे पसन्द करता है। धन्य है वो दादी, धन्य है दादी की मुस्कुराहट, धन्य है वह

पौत्र जिसे दादी की वह मुस्कुराहट देखना और उसे पसन्द करना हासिल है तथा धन्य हैं वे माता-पिता जो आज टेलीविजन के रंगीन स्क्रीन पर चमकते 'डोरेमान', 'मोटू पतलू' और 'छोटा भीम' के चालू समय में अपने बच्चों को उनकी दादी की झुर्रियों में अपने पसन्द की मुस्कुराहट खोजने का अवसर दिया है। 'नायब साहब' किताब में दर्ज यह पूरा प्रसंग आज के 'न्यूक्लियस फैमली' के लोकप्रिय और सुविधाजनक 'फार्मेट' के बरक्स संयुक्त परिवार की मानवीय अवधारणा की महिमा बताता है।

डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव इतिहासकार हैं। भारत के इतिहास पर उन्होंने अनेको पुस्तकें लिखी हैं। इतिहास लेखन का यह प्रशिक्षण और प्रविधि 'नायब साहब' पुस्तक के लेखन में खूब काम आयी है। जिसकी एक बानगी पुस्तक में के आखिर में 'नायब साहब के नवरत्न और नूर' शीर्षक में मिलता है। इस शीर्षक में श्रीवास्तव साहब के पूरे परिवार का परिचय दिया गया है साथ ही लेखक ने अपने पिता-पक्ष, मातृ-पक्ष के साथ ही श्रीवास्तव साहब की बहुओं के परिवार की भी वंशावली दिया है। जो उनकी बाद की पीढ़ियों के लिए बड़े महत्व का होगा। वंशावली लिखे जाने की परम्परा राजा-महाराओं के यहाँ रही है। किन्तु नायब साहब के बहाने अपने से सम्बन्धित परिवारों की वंशावली देने की यह कोशिश मुख्यधारा के इतिहास लेखन के बरस कुछ-कुछ 'सबाल्टर्न इतिहास' जैसा है। नायब साहब की यह जीवनी भी 'सबाल्टर्न इतिहास' ही है। वैसे भी इतिहास के महत्व का पता वर्तमान में नहीं भविष्य में चलता है। पुस्तक में नायब साहब की दिनचर्या एवं दर्शन के बहाने एक सामान्य भारतीय मनुष्य की आस्तिकता, मनुष्यता और उसके लोक-परोपकारी व्यक्तित्व को उजागर किया गया है। साथ ही व्रत-तीज-त्यौहार शीर्षक के अर्न्तगत दीपावली पूजन, देवउठनी ग्यारस, होली, करवा चौथ आदि त्यौहारों के साथ ही कायस्थ समाज के देवता चित्रगुप्त महाराज की कथा और उसके महत्व को बताया गया है। अपनी इसी व्याप्ति के कारण यह किताब नायब साहब की जीवनी से आगे बढ़ कर अपने समय की ऐतिहासिक सांस्कृतिक जीवनी की शक्ल ले लेती है। इस पुस्तक को पढ़ते समय नायब साहब के बहाने बहुत सारे चरित्रों, घटनाओं के बारें में पता चलता है। एक तरह से 'नायब साहब' पुस्तक श्री रामभरोसे श्रीवास्तव के साथ ही तत्कालीन मध्यप्रदेश के मध्यवर्गीय परिवेश के बारे में भी एक जीवंत दस्तावेज है।

'नायब साहब' पुस्तक श्री रामभरोसे श्रीवास्तव की जीवनी है, जिसमें श्रीवास्तव साहब से जुड़ी प्रत्येक घटना का विस्तार से उल्लेख है। किन्तु कहीं-कहीं यह विस्तार खटकता है। कुछ प्रसंगो के उल्लेख से बचा जा सकता था। अवांक्षित विस्तार के कारण किताब की संरचना प्रभावित हुई है। साथ ही श्रीवास्तव साहब के जीवन से सम्बन्धित घटनाओ और प्रसंगो के वर्णन में और अधिक क्रमबद्धता की दरकार थी। अपने किसी आत्मीय की जीवनी लिखते समय इस तरह की समस्याएं आती ही हैं। जिनसे पार पाना लेखकीय कौशल है। डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव ने चूँकि

अपने पिता की जीवनी लिखा है इसलिए कहीं-कहीं एक जीवनीकार की लेखकीय तटस्थता भंग हुई है।

इन सबके बावजूद 'नायब साहब' किताब एक सामान्य मनुष्य की विशेष गाथा है जिसे 'साधारण के सौन्दर्य' के महाभाव के इर्द-गिर्द बुना गया है। यह एक श्रमसाध्य कार्य था जिसे डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव ने पूरी लेखकीय विनम्रता के साथ पूरा किया है। 'नायब साहब' किताब को डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव ने अपने पिता की स्मृतियों को कर्त्तापन के अभिमान में नहीं साक्षी मात्र होने की विनम्र भूमिका के साथ प्रस्तुत किया है, जो स्तुत्य है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

◆ समीक्षित पुस्तक –
नायब साहब
लेखक : डॉ. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव
राजस्थानी ग्रन्थाकार, जोधपुर
प्रथम संस्करण-2016
पृष्ठ संख्या-238
मूल्य : 400/-

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम

—विनोद रजक

विश्वविद्यालय में भारत सरकार की राजभाषा नीतियों का अनुपालन सुनिश्चित कराने हेतु बनाए गए राजभाषा प्रकोष्ठ में हिन्दी अधिकारी, हिन्दी अनुवादक एवं हिन्दी टंकक पदस्थ हैं। विश्वविद्यालय के राजभाषा प्रकोष्ठ की वर्ष 2015-16 के दौरान प्रमुख गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं —

कार्यशाला :

विभिन्न विभागों/अनुभागों में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से राजभाषा प्रकोष्ठ प्रत्येक तिमाही में कम से कम एक हिन्दी कार्यशाला का आयोजन करता है। इस वित्तीय वर्ष में दिनांक 29 अप्रैल, 2015 को 'प्रवर श्रेणी लिपिक ग्रेड-प्रथम वर्ग हेतु विशेष कार्यशाला', दिनांक 11 सितम्बर, 2014 को 'हिन्दी टंकण एवं पत्र लेखन', दिनांक 30 दिसम्बर, 2015 को 'एक दिवसीय अनुवाद कार्यशाला' विषयों पर कार्यशालाएँ आयोजित की गईं। इन कार्यशालाओं में विषय प्रवर्तक के रूप में वरिष्ठ आलोचक, अनुवादक एवं शिक्षाविद प्रो. रमेश दवे, सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. अनुराग श्रीवास्तव, वरिष्ठ पत्रकार एवं अनुवादक श्री राजेश श्रीवास्तव, सहायक प्रोफेसर डॉ. अमरेन्द्र त्रिपाठी, आदि उपस्थित रहे। इस वर्ष इन कार्यशालाओं के माध्यम से चरणबद्ध तरीके से विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों/अनुभागों में कार्यरत लगभग 22 प्रवर श्रेणी लिपिक ग्रेड-प्रथम, 29 अवर श्रेणी लिपिकों को हिन्दी में कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया जा चुका है। इन कार्यशालाओं के लिए प्रशिक्षण सामग्री राजभाषा प्रकोष्ठ ही तैयार करता है।

विश्वविद्यालयीन राजभाषा कार्यान्वयन समिति :

राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा समय-समय पर जारी आदेशों/निर्देशों का अनुपालन सुनिश्चित कराने के उद्देश्य से गठित विश्वविद्यालयीन राजभाषा कार्यान्वयन समिति की तिमाही बैठकें आयोजित होती हैं। इस वित्तीय वर्ष में दिनांक 05.06.2015, एवं 28.12.2015 को विश्वविद्यालय के प्रशासनिक भवन स्थित समिति कक्ष में आयोजित की गईं। इन बैठकों में कार्यालयीन कामकाज में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से लिए गए निर्णयों पर भी समुचित कार्रवाई की गई।

हिन्दी दिवस समारोह 2015 :

हिन्दी दिवस का आयोजन राजभाषा प्रकोष्ठ की महत्त्वपूर्ण गतिविधियों में से एक है। इस वर्ष राजभाषा के वार्षिक अनुष्ठान हिन्दी दिवस को विशेष उल्लास के साथ मनाया गया। 11 एवं 14 सितम्बर, 2015 को आयोजित इस दो दिवसीय समारोह में हिन्दी टंकण एवं पत्र लेखन प्रतियोगिता हिन्दी श्रुतलेखन प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इन प्रतियोगिताओं के विजेताओं को क्रमशः रु. 1500/-, रु. 1000/- एवं रु. 500/-के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार प्रदान किए एवं विश्वविद्यालय परिवार के सदस्यों द्वारा काव्य पाठ किया गया। हिन्दी दिवस के मुख्य कार्यक्रम में वरिष्ठ लेखक श्री अमृत लाल बेगड़, एवं विश्वविद्यालय के वरिष्ठतम प्रोफेसर एस. पी. व्यास जी उपस्थित थे। कार्यक्रम में न केवल अधिकारियों, शिक्षकों व कर्मचारियों ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया बल्कि छात्र-छात्राओं ने भी पूर्ण मनोयोग से कार्यक्रम को सफल बनाने में सहयोग प्रदान किया।

वार्षिक गृह राजभाषा पत्रिका भाषा भारती (ISSN 2321-5704) के तृतीय अंक का प्रकाशन :

विश्वविद्यालय के कर्मचारियों, शिक्षकों एवं अधिकारियों के बीच हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से प्रकाशित की जाने वाली वार्षिक गृह राजभाषा पत्रिका 'भाषा भारती' के तृतीय अंक का प्रकाशन किया गया। इस पत्रिका का विमोचन हिन्दी दिवस समारोह 2015 के कार्यक्रम में किया गया। इस अवसर पर वरिष्ठ लेखक श्री अमृत लाल वेगड़, प्रो. एस.पी. व्यास जी समेत अन्य गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

विभागों में प्रशासनिक शब्दावली का वितरण :

विश्वविद्यालय के अधिकारियों, कर्मचारियों में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने एवं कार्यालयीन कामकाज में सरलता की दृष्टि से राजभाषा प्रकोष्ठ द्वारा वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, उच्चतर शिक्षा विभाग द्वारा प्रकाशित प्रशासनिक शब्दावली हिन्दी से अंग्रेजी एवं अंग्रेजी से हिन्दी शब्दावली का निःशुल्क वितरण विश्वविद्यालय के समस्त विभागों एवं कार्यालयों में किया गया।

अनुवाद कार्य :

विश्वविद्यालय की वार्षिक लेखा रिर्पोट, प्रवेश विवरणिका, वार्षिक प्रतिवेदन में कार्यालयीन प्रतिवेदनों का अनुवाद, वेटिंग एवं द्विभाषीकरण प्रक्रिया में सहयोग। कार्यालय में प्रचलित विभिन्न प्रपत्रों एवं अन्य आवश्यक दस्तावेजों का द्विभाषीकरण किया गया। राजभाषा प्रकोष्ठ राजभाषा अधिनियम 1963 की धारा 3(3) के अनुपालन के लिए भी अनवरत प्रयासरत है।

अन्य कार्य :

1. विशेष प्रदत्त कार्य के रूप में राजभाषा प्रकोष्ठ ने वर्ष 2016 हेतु विश्वविद्यालय के **कैलेण्डर, डेस्क कैलेण्डर, डायरी का प्रकाशन** क्रय एवं भण्डार अनुभाग के सहयोग से किया।
2. नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति की बैठकों में विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में हिस्सा लिया।
3. विश्वविद्यालय के केन्द्रीय कार्यालय के दोनों प्रवेश द्वारों पर **आज का विचार** तथा **आज का शब्द** उपलब्ध कराया।
4. हिन्दी के प्रगामी प्रयोग हेतु कर्मचारियों को प्रोत्साहित करने के लिए राजभाषा से संबंधित सूक्तियों/वाक्यों/कथनों को प्रशासनिक भवन में जगह-जगह उपलब्ध कराया।
5. हिन्दी अधिकारी एवं हिन्दी अनुवादक ने मई माह में मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय द्वारा आयोजित राजभाषा की राष्ट्रीय संगोष्ठी में विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया।

हिन्दी टंकक
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

पाठकीय

आदरणीय तिवारी साहब, दिनांक : 20.11.2015

प्रणाम स्वीकारें,

आपके संरक्षण में राजभाषा प्रकोष्ठ द्वारा निर्मित 2015 की 'भाषा-भारती' मिली। हर दृष्टि से सम्पन्न रूचिपूर्ण स्तरीय पत्रिका के लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें। छबिल जी की मेहनत, सुझबूझ के साथ-साथ आपका प्रोत्साहन एवं कुलसचिव के परामर्श से 'भाषा-भारती' को यह मकाम हासिल हुआ। पचासों गृह-पत्रिकाएँ मैंने देखी हैं, जिनमें दो पत्रिकाएँ ऐसी लगीं, जो गृह-पत्रिका से ऊपर उठकर विद्यार्थियों से लेकर बुद्धिजीवी तकों के लिए पठनीय, तथा संग्रहणीय बन गई हैं, एक तो आई.डी.बी.आई. की ओर से मुंबई से निकलने वाली 'विकास-प्रभा' है दूसरी 'भाषा-भारती'। सम्भव हो तो इसे छःमाही बनावें ताकि पाठकों को अधिक लाभ मिले।

छबिल जी ने संपादकीय में एक ऐसी महान प्रतिभा का जिक्र किया है, जो राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित व प्रशंसित हैं, संपादक ने उनकी पावन-स्मृति में पत्रिका को समर्पित कर पत्रिका का मान बढ़ाया है। सभी ने उसके निर्विवादीय, राजनीति-निरपेक्ष, निःस्वार्थ एवं निरपेक्ष व्यक्तित्व की सराहना की, लेकिन कोई इसका जिक्र नहीं करता कि ऐसे महान् हस्ती के लिए दुबारा राष्ट्रपति बनाने के प्रस्ताव को किस न्यस्त-स्वार्थ, गंदी राजनीति के कारण ठुकरा दिया गया! राष्ट्रपति की गरिमा को स्वार्थवश समाप्त करने वाले का घिनौना सच सबके सामने आना चाहिए चाहे वह कोई व्यक्ति हो या दल!

'भाषा एवं चिन्तन' शीर्षक में प्रकाशित पाँचों लेख हिन्दी की स्वीकार्यता को मजबूत बनाने तथा राष्ट्रभाषा के प्रति हमारा स्वाभिमान जगाने का काम करते हैं। 'घर का जोगी जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध' मुहावरे के जरिए ब्रजेश जी ने दासता वाली मानसिकता के अंग्रेजीनूमाँ व्यक्तियों को व्यंग्य के तमाचे मारे हैं।

मध्यकालीन कवयित्री मीराबाई की रचनाएँ आज भी प्रासंगिक है और इसे लेखक ने स्त्री स्वाधीनता के पर्याय के रूप में जो प्रस्तुत किया है, वास्तव में तारीफे-काबिल है। दलित का मुद्दा आज साहित्य का नहीं, बल्कि राजनीति का होकर रह गया है। मेरे विचार से साहित्य तथा साहित्यकारों को जातिगत खानों में विभाजित करना वस्तुतः आक्रोश और असहिष्णुता को ही बढ़ावा देना है।

शेष सभी रचनाएँ पाठकों को प्रमोदित व प्रभावित करती हैं। पत्रिका से जुड़े सभी महानुभवों को मेरा साधुवाद!

आपका गुणमुग्ध,
—अजय कुमार पटनायक
भुवनेश्वर, ओड़िशा

आदरणीय छबिल कुमार जी, होली
सादर अभिवादन! 23 मार्च, 2016

'भाषा भारती' सितम्बर, 2015 का अंक प्राप्त हुआ। राजभाषा प्रकोष्ठ, डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर की यह वार्षिक पत्रिका हर बार अपने नये कलेवर में प्रकाशित हो रही है, निश्चित ही संपादक डॉ. छबिल कुमार मेहेर तथा संपादक मंडल के सदस्य प्रशंसा और बधाई के पात्र हैं। 'भाषा भारती' के सभी अंक मन को छूने वाले हैं। सितम्बर-2015 के अंक में प्रो. कान्तिकुमार जैन का संस्मरण 'विलियम शेक्सपीयर वाया प्रो. स्वामीनाथन्' मन को भाया। हिमांशु कुमार का लेख 'हिन्दी में दलित आत्मकथा लेखन के मायने' दलित-विमर्श की सार्थकता सिद्ध करता है। उर्मिला शिरीष, विजय बहादुर सिंह के लेखों ने 'भाषा-भारती' में चार चाँद लगा दिये हैं। यह पत्रिका अपने बहुआयामी कलेवर तथा हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार को सार्थक सिद्ध कर रही है। आगामी अंक पिछले अंक से कहीं बेहतर निकले, मेरी शुभेच्छाएँ तथा मंगलकामनाएँ!

—डॉ. घनश्याम भारती
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
गढ़ाकोटा, जिला-सागर (म.प्र.)